॥ नमामि गुरू तारणम् ॥

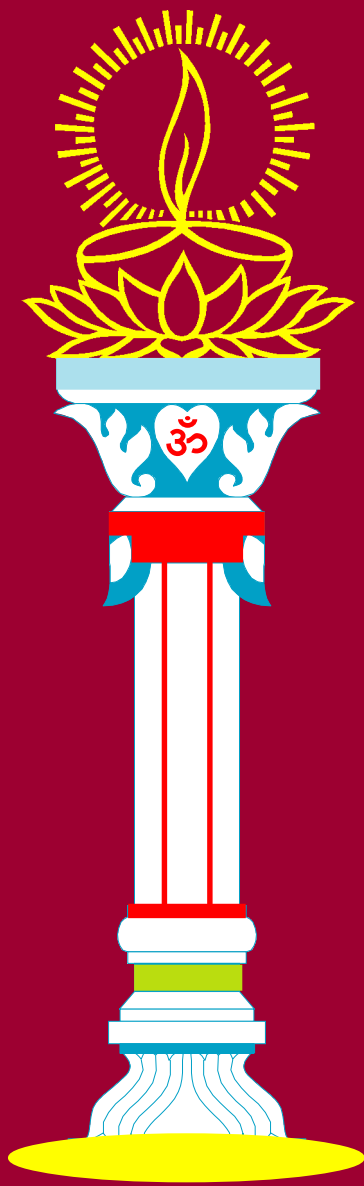

ॐ नमः सिद्धं

(शोध पूर्ण कृति)

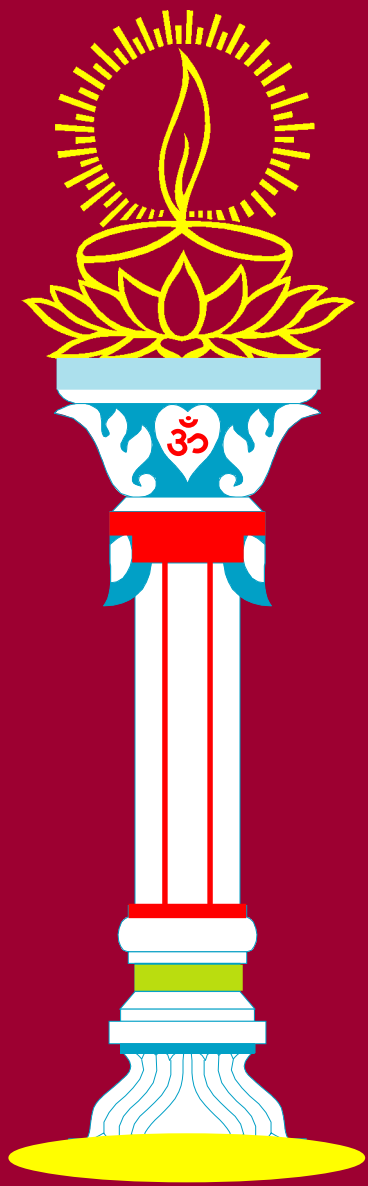

लेखक

ब्र.बसन्त

ब्रह्मानंद आश्रम का पंद्रहवां पुष्प

ॐ नमः सिद्धं

(शोध पूर्ण कृति)

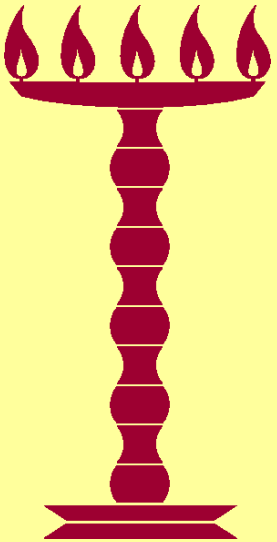

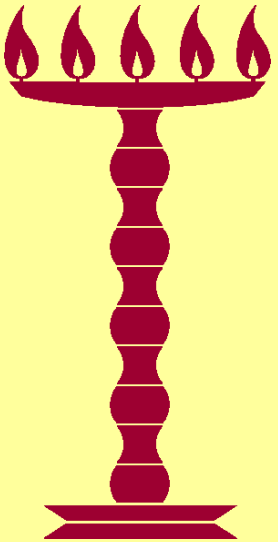

: लेखक :

ब्र.बसन्त

: संपादक :

गोस्वामी जानकी प्रसाद शास्त्री

(साहित्याचार्य, ज्योतिषाचार्य, व्याकरणाचार्य)

: प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थल :

ब्रह्मानंद आश्रम

संत तारण तरण मार्ग, पिपरिया (होशंगाबाद) म.प्र.

मूल्य ३८/-

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति पुरातनकाल से ही आध्यात्मिक गरिमामय रही है। अध्यात्म का अर्थ है अपने आत्म स्वरूप को जानना, स्व-पर का यथार्थ निर्णय करना कि जो स्व अर्थात् चैतन्य है वह कभी पर अर्थात् जड़ रूप नहीं हो सकता और जो पर संयोगी जड़ पदार्थ हैं वे कभी चैतन्य रूप नहीं होते, इस प्रकार पर पदार्थों से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप का अनुभव प्रमाण बोध होना ही अध्यात्म है। अध्यात्म का फल आत्मानुभव सम्पन्न आत्म सुख, आत्म शांति और आनंद है। श्री गुरु तारण स्वामी जी ने कहा है- **रत्नत्रयालंकृत सत् स्वरूपं** अर्थात् रत्नत्रय (सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) से अलंकृत अपना आत्म स्वरूप है। इसी प्रकार श्री नेमिचंद्राचार्य जी ने रत्नत्रयमयी अभेद आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है कि सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा से भिन्न किसी पर पदार्थ में नहीं पाए जाते इसलिए रत्नत्रयमयी आत्मा ही मोक्ष का कारण है। इसे हम दूसरे शब्दों में कहें कि सम्यक्दर्शन से परम सुख, सम्यक्ज्ञान से परम शान्ति और सम्यक्चारित्र से परम आनंद प्रगट होता है। इसमें भी आत्म वैभव की प्रगटता की ही बात है।

अध्यात्म के आत्मजनित इस अनुपम फल को प्राप्त करने के लिये हमारे देश में मंत्र जप की साधना पूर्वक आत्म शक्ति को प्रगट करने की अर्थात् मंत्र में निहित जो वाच्य है और जो शक्ति है, जप साधना से उसमें तन्मय होने की परम्परा रही है, इस प्रकार मंत्र के आराधन से परम आत्म तत्त्व या परमात्म तत्त्व की प्राप्ति का संदेश हमारे संतों ने दिया है।

भारत संत भूमि है,यहाँ संतों की अक्षुण्ण परम्परा से भारत के लोग आज भी गौरवान्वित हैं। सोलहवीं सदी संत युग का समय था। उस समय भारत के प्राय: सभी प्रान्तों में महापुरुषों का अवतरण हो रहा था, संत कबीरदास,संत तुलसीदास,गुरू नानक, मीराबाई, दादू दयाल आदि अनेकों महापुरुषों ने थोड़े बहुत समय के हेर-फेर से भारतीय वसुन्धरा पर जन्म लेकर जन मानस को जागृत करने का अविस्मरणीय कार्य किया। जैन परंपरा में हुए वीतरागी संत श्री गुरू तारण स्वामी जी निराकार स्वरुप की आराधना में विश्वास रखने वाले तथा अध्यात्म का बिगुल बजाने वाले अद्वितीय संत थे, उनके द्वारा रचित चौदह ग्रंथ अध्यात्म साधना से सम्पन्न तथा मनुष्य मात्र के लिये आत्महित का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं।

आत्म साधना की चरम सीमाओं को उपलब्ध हुए संत पुरुषों के वचन आर्ष

वचन कहलाते हैं, जैसा कि कहा गया है -

ऋषिणा प्रणीतं ग्रंथं आर्षम्।

ऋषि द्वारा रचित ग्रंथ ही आर्ष कहलाता है, आर्ष रचना पर कभी भी शंका नहीं की जाती, अपितु आर्ष रचना के ही अनुरूप अर्थ किया जाता है। यही नियम श्री तारण स्वामी जी की वाणी पर लागू होता है। उनके ग्रंथों में आत्म साधना की अनुभूतियाँ और जाति-पांति के बंधनों से दूर मनुष्य मात्र के लिये अध्यात्म और आत्म कल्याण की देशना निहित है।

श्री तारण स्वामी जी के चौदह ग्रंथों में अध्यात्म साधना अनुभव तथा अन्य अनेक सैद्धान्तिक विषयों के प्रतिपादन के साथ-साथ श्री पंडित पूजा, खातिका विशेष, छद्मस्थवाणी और ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ में ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का उल्लेख मिलता है। ज्ञान समुच्चयसार ग्रंथ में पंचाक्षर के रूप में ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की सिद्धि तथा अ आ इ ई आदि वर्णाक्षरों का आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट किया है जो अध्यात्म जगत के लोगों के लिये अनुपम देन है।

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र अत्यंत प्राचीन मंत्र है, प्रचीनकाल में भारत वर्ष के समस्त विद्यालयों में इस मंत्र के उच्चारण पूर्वक ही वर्णमाला की शिक्षा प्रांरभ की जाती थी। लोगों में यह विश्वास था कि इस मंत्र के आराधन से समस्त कार्य सिद्ध होते हैं। जैन दर्शन में 'सिद्ध' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है, स्याद्वाद सिद्धांत के अनुसार व्यवहार नय की अपेक्षा से जिन्होंने अपने आत्म स्वरूप में लीन होकर समस्त कर्म कालिमा और राग-द्वेष आदि विकारों को क्षय करके हमेशा-हमेशा के लिये अविनाशी शाश्वत पद प्राप्त कर लिया है वे सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। निश्चय नय से **'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'** इस सूत्र के अनुसार संसार के समस्त जीव आत्म स्वभाव से सदाकाल शुद्ध हैं, यदि स्वभाव की अपेक्षा शुद्धि नहीं मानी जायेगी तो पर्याय में शुद्धि किसके आश्रय से प्रगट होगी अर्थात् वस्तु का स्वभाव कभी अशुद्ध नहीं होता, त्रिकाल शुद्ध रहना स्वभाव की सहज प्रकृति है, इसी शुद्ध स्वभाव के आश्रय से सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि अनंत गुण प्रगट होते हैं।

नंद, आनंद, चिदानंद, सहजानंद,परमानंदमयी अभेद अखंड सिद्ध स्वभाव की अनुभूति ही 'ॐ नम: सिद्धम्' का तात्पर्य है। जैन दर्शन में ॐ नम: सिद्धम् तथा ॐ नम: सिद्धेभ्य: दोनों मंत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। व्याकरण के **'नम: स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलं वषट् योगाच्च चतुर्थी भवति'** इस सूत्र के अनुसार ॐ नम: सिद्धेभ्य: का प्रचलन विशेष रूप से हुआ; जबकि ॐ नम: सिद्धम् मंत्र प्राचीनकाल से स्मरण किया जाता रहा किन्तु समय चक्र के बदलते

क्रम में यह मंत्र लोक परिहास्य को प्राप्त हो गया और 'ॐ नम: सिद्धम्'मंत्र को लोग ओ ना मा सी ध म् के रूप में स्मरण करने लगे, इस मंत्र के साथ–साथ चार पाटी पढ़ाने की भारत में विशेषता रही है। अभिप्राय यह है कि ओ ना मा सी ध म, ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का विकृत रूप है। इस मंत्र में सिद्धम् पद द्वितीयांत एक वचन है। 'कर्मणि द्वितीया' आदि सूत्र इस मंत्र की सिद्धि के लिये मार्ग प्रशस्त करते हैं।

प्राचीनकाल से प्रचलित 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र की भ्रान्तियाँ दूर करने की एवं एक निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने की श्रावकों में जिज्ञासा रही है। उस लालसा की पूर्ति हेतु तारण स्वामी की आध्यात्मिक परंपरा को आगे बढ़ाते हुए वर्तमान युग के उदीयमान नक्षत्र श्रद्धेय अध्यात्म रत्न बाल ब्रह्मचारी श्री बसन्त जी ने ॐ नम: सिद्धम् की विशद् आध्यात्मिक व्याख्या करके श्रावकों की जिज्ञासा को पूर्ण करने का भागीरथ प्रयत्न किया है। अनेक प्रान्तों में भ्रमण कर वहां से प्राप्त अनेक लेखों एवं हस्तलिपियों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि 'ॐ नम: सिद्धम्' अपौरुषेय महामंत्र है, अनादि निधन है और स्व पर के भेदज्ञान पूर्वक 'स्व' स्वरूप में स्थित रहने के लिए मूल आधार है। इस प्रकार ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की प्राचीनता को ऐतिहासिक तथ्यों और प्रमाणों से सिद्ध करके भारतीय साहित्य विभाग को एक अनुपम कृति प्रदान की है।

प्रस्तुत कृति में ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का आध्यात्मिक, इतिहास और व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में शोध खोज पूर्ण चिंतन प्रस्तुत किया गया है। संवत् २०५८ सन् २००१ में ब्रह्मचारी जी के वर्षावास समापन समारोह के अवसर पर मुझे अमरवाड़ा जिला–छिंदवाड़ा जाने का शुभ योग बना, इस ग्रंथ का आद्योपांत अवलोकन किया। पूरा ग्रंथ देखने के बाद उसके बारे में क्या लिखूं, पाठकजन स्वयं ही अवलोकन कर अपने जीवन को सार्थक बना सकेंगे। ग्रंथ में 'ॐ नम: सिद्धम्' की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए वर्णमाला का आध्यात्मिक स्वरूप, सिद्ध शब्द का आध्यात्मिक स्वरूप, वर्णमाला का सार, अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद और अर्थ का विश्लेषण, ओंकार की महिमा, बारहखड़ी, अक्षर बत्तीसिका, उपदेशी बारहखड़ी, दौलतराम जी कृत अध्यात्म बारहखड़ी का समावेश रचना में प्रामाणिकता प्रदान करता है।

इस आध्यात्मिक महत्वपूर्ण कृति के संपादन का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ, इससे मुझे अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। बीना में सन् १९८० से १९८२ के बीच ब्रह्मचारी जी के संस्कृत अध्ययन के समय ही उनकी ज्ञानार्जन की लगन और योग्यता देखकर ऐसा प्रतीत हुआ था कि इस प्रतिभा के द्वारा संपूर्ण देश में

धर्म का प्रचार होगा, जो आज प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है।

श्रद्धेय बसंत जी की साधना, अध्ययन एवं लगन को देखकर मुझे बड़ा हर्ष होता है, मैं उनके भविष्य की मंगलमय कामना करता हुआ यही भावना भाता हूं कि वे इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में उच्चतम ख्याति प्राप्त कर भव्यजनों के उद्धार का मार्ग प्रशस्त करें ।

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के सांगोपांग स्वरूप का दिग्दर्शन कराने वाली इस कृति का स्वाध्याय, चिंतन, मनन करके सभी आत्मार्थी जीवों के अंतरंग में अपने सिद्ध स्वरूप का अनुभव प्रगट हो ऐसी मंगल भावना है।

आचवल वार्ड , पेट्रोल पंप के पीछे
बीना , जिला – सागर (म. प्र.)
फोन – २२४२१९ (०७५८०)

पं. जानकी प्रसाद गोस्वामी
साहित्याचार्य, एम. ए. साहित्यरत्न

ॐ नम: सिद्धं कहो सब,
विपत व्याध तन की भागे।
इन्द्रिय के फाटक खोल देख,
केवल ज्ञान भीतर जागे॥
(श्रावक चंचलमल जी अल्लम वाले, बारहखड़ी छंद – ३८)

अपनी बात

श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज द्वारा रचित चौदह ग्रंथ आगम और अध्यात्म के सिद्धांतों का जीवन में किस प्रकार प्रयोग करें इस रहस्य को अनुभव और साधना के आधार पर व्यक्त कर रहे हैं।

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के आध्यात्मिक अभिप्राय को जिस प्रकार श्री गुरु तारण स्वामी ने स्पष्ट किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के अर्थ और अभिप्राय को श्री गुरु महाराज ने अपने सिद्ध स्वभाव की अनुभूति के तल में बैठकर स्पष्ट किया है, यह मंत्र अपने आपमें अत्यंत महिमामय स्वयं सिद्ध है। जैन जगत में ॐ नम: सिद्धम् और ॐ नम: सिद्धेभ्य: दोनों ही मंत्र श्रद्धास्पद हैं। ॐ नम: सिद्धेभ्य: बहुप्रचलित मंत्र है किंतु ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के संबंध में जानने वाले लोग विरले ही हैं। श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज के ग्रंथों में जब इस मंत्र को पाया तब गुरुवाणी का अतिशय बहुमान हृदय में जागृत हुआ और इस मंत्र की प्राचीनता, अर्थ और अभिप्राय को जानने समझने की जिज्ञासा प्रबल हुई जिसके परिणाम स्वरूप शोध खोज की यात्रा का शुभारंभ करते हुए सर्वप्रथम इस मंत्र से संबंधित चर्चा सन् १९९३ में बीना में व्याकरणाचार्य गोस्वामी श्री जानकीप्रसाद शास्त्री जी से हुई, आपसे मुझे सन् १९८० से ८२ के मध्य संस्कृत का अध्ययन करने को सौभाग्य प्राप्त हुआ। सन् १९९३ में आपसे इस चर्चा का प्रारंभ होते ही इस मंत्र के संबंध में चिंतन और खोज निरंतर बनी रही और यह अल्प सा प्रयास आपके समक्ष प्रस्तुत है।

प्रसन्नता का विषय यह है कि परम श्रद्धेय अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज के मंगलमय आशीर्वाद से यह कृति संयोजित हुई है।

इसके लेखन कार्य में श्रद्धेय गुरु जी का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ तथा बाल ब्रह्मचारी श्री आत्मानंद जी, बाल ब्रह्मचारी श्री शांतानंद जी, बाल ब्रह्मचारिणी बहिन उषा जी एवं तारण तरण श्री संघ के समस्त साधकों का समय-समय पर सहयोग प्राप्त हुआ। इस कृति के लेखन कार्य में ज्ञात अज्ञात भूलों के लिए सुधीजनों से क्षमायाचना सहित मार्गदर्शन प्रदान करने का निवेदन है। अपने सिद्ध स्वरूप का लक्ष्य बनाकर स्वानुभूति को प्रगटकर सभी भव्य जीव सिद्धत्व को प्रगट करें यही मंगल कामना है।

ब्रह्मानंद आश्रम, पिपरिया
दिनांक ५.३.२००३

ब्र. बसन्त

अक्षर और अभिप्राय

अक्षरों से मिलकर शब्द बनते हैं। शब्दों से मिलकर पद बनता है और पद से अर्थ का बोध होता है, ॐ नम: सिद्धम् पंचाक्षरी मंत्र है। अक्षर का अर्थ है जिसका कभी क्षरण न हो, इस अर्थ में केवलज्ञान ही परम अक्षर स्वरूप है इसकी विशेषता बताते हुए षट्खण्डागम ग्रंथ में कहा गया है।

'क्षरण भावा अक्खरं' केवलणाणं तस्स अणंतिम भागो पज्जाओ णाम मदिणाणं। तं च केवलणाणं णिरावणमक्खरं च एदम्हादो सुहुमणिगोदलद्धि अक्खरादो ज मुप्पज्जइ सुदणाणं तं पि पज्जाओ कज्जे कारणो वयारादो।

(खण्ड एक, जीव स्थान पृष्ठ-११)

क्षरण अर्थात् विनाश का अभाव होने से केवलज्ञान अक्षर कहलाता है। इसका अनंतवां भाग पर्याय नाम का मतिज्ञान है। वह पर्याय नाम का मतिज्ञान केवलज्ञान के समान निरावरण और अविनाशी है। इस सूक्ष्म निगोद लब्धि अक्षर से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी कार्य में कारण के उपचार से पर्याय कहलाता है। जैसा कि सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य जी महाराज ने गोम्मट्टसार जीवकाण्ड नामक ग्रंथ की गाथा ३२२ में कहा है -

सुहमणिगोदमपजत्तयस्स जादस्य पढ़म समयम्हि।
फासिंदिय मदि पुव्वं सुदणाणं लद्धि अक्खरयं॥ ३२२॥

अर्थ - निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान पूर्वक लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान होता है।

लब्धि का अर्थ प्राप्ति है, अन्य प्राप्ति भ्रमोत्पादक लब्धियां पर पदार्थात्मक होने से 'स्व' से अभिन्न नहीं है और हेय होने से उनका क्षय करना ही वांछनीय है तथा लब्धि आत्मलब्धि अर्थात् जीव का स्वरूप बोध है। लब्धि का साधन श्रुतज्ञान है, वह श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है। अक्षर का अर्थ जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि जिसका कभी नाश न हो वह कभी क्षय भाव को प्राप्त न होने वाला एक आत्मा ही है इसलिए श्रुतज्ञान उस अक्षर स्वरूप परमात्म तत्त्व का वाचक है तथा श्रुत का साधनभूत अंग है। शास्त्र बिना अक्षर के ज्ञानोपदेश में समर्थ नहीं हो सकते अत: श्रुत के ज्ञान प्रबन्ध के उपदेष्टा शब्द भी अक्षरात्मक हैं और उनका सार स्वरूप आत्मा भी अक्षर अविनाशी है।

अक्षर ज्ञान साधन है, शान्ति और सुख साध्य है। प्रस्तुत कृति में अध्यात्म रत्न बाल ब्रह्मचारी पूज्य श्री बसंत जी महाराज ने पंचाक्षर ॐ नम: सिद्धम् का अर्थ अभिप्राय तथा मंत्र प्राचीनता को प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों से, अध्यात्म

और व्याकरण से सिद्ध किया है। यह अनुपम कृति श्री बसंत जी महाराज ने छिंदवाड़ा और अमरवाड़ा क्रमश: सन् २००० एवं २००१ में श्रावण माह की मौन साधना के समय लिखी है, मात्र दो माह में हुआ यह लेखन कार्य सदियों तक ॐ नम: सिद्धम् की महिमा को धरा पर बिखेरता रहेगा और सभी जीवों के लिए अपने सिद्ध स्वरूप का लक्ष्य बनाने में विशेष रूप से सहयोगी सिद्ध होगा ।

मंत्र जप का अप्रतिम महत्व होता है, जिसका उद्देश्य आत्मानुभूति को प्रगट करना है। इस कृति के माध्यम से सभी आत्मार्थी भव्य आत्माओं के अंतरंग में अपने सिद्ध स्वरूप की अनुभूति प्रगट हो तथा सभी जीवों के आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो यही पवित्र भावना है।

पं. राजेन्द्र कुमार जैन
संयोजक
अखिल भारतीय तारण तरण
जैन विद्वत् परिषद्

अमरपाटन (सतना)
दिनांक- ५-३-२००२

राग और वैराग्य

प्रत्येक जीव अपने भाग्य का विधाता स्वयं है, कोई किसी को सुख-दु:ख देने वाला नहीं है, समस्त जीव अपने-अपने पुण्य-पाप कर्म के अनुसार सुख-दु:ख रूप फल भोग रहे हैं। संसार के विस्तार का प्रमुख कारण अज्ञान और मोह है। जहां तक 'मेरा-मेरा' ऐसी भावना है वहां तक मोह है, मोह के कारण ही विकार उत्पन्न होता है। राग भाव जीव को संसार में डुबाता है और विरक्ति का भाव जीव को संसार सागर से पार लगाता है। राग के समान संसार में दूसरा कोई दु:ख नहीं है और त्याग वैराग्य के समान दूसरा कोई सुख नहीं है।

ॐ नम: सिद्धम् : एक अपूर्व अन्वेषण

भारतीय वाङ्मय में मंत्र जप और उसका स्वरूप अत्यंत सुन्दर रीति से समझाया गया है। चंचल मन को वश में करने का सच्चा उपाय मंत्र जप ही है। द्वादशांग वाणी में विद्यानुवाद पूर्व से मंत्रों का उद्भव हुआ है। श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की सिद्धि श्री ज्ञान समुच्चय सार जी ग्रंथ में की है तथा अपने पांच मतों के १४ ग्रंथों में से श्री पंडित पूजा जी, श्री खातिका विशेष जी, श्री छद्मस्थवाणी जी आदि ग्रंथों में इस मंत्र का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

प्रस्तुत कृति ॐ नम: सिद्धम् श्रद्धेय बाल ब्रह्मचारी श्री बसंत जी महाराज द्वारा सृजित एक अनुपम उपलब्धि है। इस कृति का मैंने आद्योपांत अवलोकन किया और पाया कि यह लेखन कार्य अत्यन्त शोध खोज पूर्वक किया गया है। इसमें ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का अर्थ आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में श्री गुरु तारण स्वामी द्वारा रचित ग्रंथ तथा जिनागम के अनेक प्रमाणों से स्पष्ट किया गया है। इसके साथ ही व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति को स्पष्ट करते हुए व्याकरण के विभिन्न सूत्रों के द्वारा ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की सिद्धि की गई है। कातंत्र व्याकरण के अनुसार भी ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की व्युत्पत्ति स्वयं सिद्ध है। आध्यात्मिक और व्याकरण संबंधी प्रमाणों के अलावा ऐतिहासिक अनेक उदाहरणों से ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की प्रचीनता और गरिमा स्वयमेव ही सिद्ध हो रही है, इस कृति के अपूर्व अन्वेषण का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। तारण समाज में इस प्रकार की यह अपने आपमें विलक्षणता को लिए हुए प्रथम रचना है, बाल ब्र. श्री बसंत जी महाराज के गहन अध्ययन एवं चिंतन की गहराई इस कृति में स्पष्ट झलक रही है।

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की अपूर्व महिमा है, यह मंत्र सभी मंत्रों में विशिष्ट स्थान रखता है। ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का अर्थ है- सिद्ध परमात्मा के समान निज सिद्ध स्वभाव को नमस्कार है। वृहद् द्रव्य संग्रह में पैंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षरी मंत्र का उल्लेख किया गया है कि इन मंत्रों का स्मरण, ध्यान करना चाहिये। इस निर्णय के अनुसार ॐ नम: सिद्धम् पांच अक्षरी मंत्र है।

मंत्र का स्मरण जप फल की इच्छा रहित होना चाहिये, तब ही आत्म शांति और आत्म शुद्धि का मार्ग प्रशस्त होता है। जब तक हम सिद्ध परमात्मा के समान स्वयं के स्वरूप को नहीं समझेंगे तब तक यथेष्ट फल की प्राप्ति नहीं होगी।

प्रस्तुत कृति में मंत्र का स्वरूप, मंत्र जप के भेद, सिद्ध परमात्मा का स्वरूप, सिद्ध स्वभाव की महिमा, मंत्र जप की विशेषता, प्राचीन शिक्षा में ॐ नम: सिद्धम् का महत्वपूर्ण स्थान, उसके अपभ्रंश होने का कारण आदि अनेक विषयों का विश्लेषण करके सिद्ध परमात्मा के समान अपने सिद्ध स्वभाव की महिमा और बहुमान को जगाया है। ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का स्मरण करते हुए अपने सिद्ध स्वभाव का अनुभव होना चाहिये, यही इस मंत्र का वास्तविक अभिप्राय है। व्याकरण के अनुसार चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग में जब ॐ नम: सिद्धेभ्य: कहा जाता है, इस मंत्र के द्वारा कार्य परमात्मा सिद्ध दशा को प्राप्त हुए अनंत सिद्ध भगवंतों को नमस्कार किया जाता है जबकि ॐ नम: सिद्धम् मंत्र में सिद्धम् द्वितीयांत एक वचन होने से कारण परमात्मा स्वरूप आत्मा के सिद्ध शुद्ध स्वभाव को नमस्कार किया गया है।

विभिन्न आध्यात्मिक और व्याकरण के तथ्यों को स्पष्ट करते हुए इस कृति में ऐतिहासिक प्रमाणों का उल्लेख अपने आपमें अत्यंत महत्वपूर्ण है। भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को अक्षर विद्या और अंक विद्या का ज्ञान नम: सिद्धम् कहते हुए प्रदान किया था। इस प्रकार अनेक उदाहरणों सहित अनेक प्रचीन ग्रंथ एवं अनेक विद्वान, लेखकों, विचारकों के चिंतनपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करते हुए ॐ नम: सिद्धम् की प्राचीनता को सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रचीन समय में यह मंत्र विद्यालयों में पढ़ाया जाता रहा और आगे चलकर वह ओ ना मा सी ध म् के रूप में प्रचलित हुआ। पाटी की पढ़ाई का क्या अर्थ है, इस प्रकार के अनेक रहस्यों को स्पष्ट करते हुए श्री बसंत जी महाराज ने श्री ज्ञान समुच्चय सार जी ग्रंथ के आधार पर ५२ अक्षरों का आध्यात्मिक विवेचन गाथा और अर्थ सहित प्रस्तुत किया है।

अत्यन्त प्रसन्नता और गौरव का विषय यह है कि श्री बसंत जी के संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में सहभागी बनने का सौभाग्य तारण समाज बीना को प्राप्त हुआ। उन्होंने सन् १९८० से १९८२ के मध्य साहित्याचार्य पं. श्री जानकी प्रसाद जी शास्त्री द्वारा व्याकरण का अध्ययन किया। अत्यन्त गौरव का अनुभव हो रहा है कि पं. श्री जानकी प्रसाद जी शास्त्री ने इस अन्वेषण पूर्ण कृति का संपादन करके इसे व्यवस्थित और सुन्दरतम स्वरूप प्रदान किया है। इस मंत्र से संबंधित शोध खोज का शुभांरभ सन् १९९३ में बीना नगर से प्रारंभ हुआ था और उसकी पूर्णता भी बीना में बाल ब्र. श्री बसंत जी महाराज के वर्षावास सन् २००२ के प्रवास में हुई। तारण समाज बीना के लिए यह सौभाग्य का विषय है।

सभी भव्य जीव इस अनमोल कृति का स्वाध्याय चिंतन-मनन करके अपने सिद्ध स्वरूप शुद्धात्म स्वभाव का अनुभव करें और मोक्षमार्गी बनें, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ -

नमस्कार हो शब्द ब्रह्म को, मन वच तन करके।
या प्रसाद कर ब्रह्म निहारूं, मेरा मुझ करके॥

अलमिति विस्तरेण....

बीना **पं. रतनचंद्र शास्त्री**

दिनांक -२७ - ६- २००२

सुख प्राप्ति का मूल मंत्र

विनय मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है, विनम्रता सुख की सहेली है। विनय से मोक्ष का द्वार खुलता है। अहंकार जीव को पतन की ओर ले जाता है, अज्ञान से अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकार ही संसार की जड़ है। अहंकार की मदिरा में उन्मत्त व्यक्ति दूसरे की बात नहीं सुनना चाहता, अहंकार ऐसा नशा है जिसमें उन्मत्त होकर मनुष्य माता-पिता, गुरू और धर्म की भी विनय नहीं करता उसे दूसरे के गुण भी दिखाई नहीं देते। अहंकार से विनय नष्ट होती है, विनयवान झुकता है, अहंकारी अकड़ता है। कुछ प्राप्त करने के लिये झुकना अनिवार्य है। विनय से विद्या प्राप्त होती है, विद्या से ज्ञान मिलता है और ज्ञान ही सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय है। अहंकार तोड़ता है, विनम्रता जोड़ती है। अहं से अधर्म और विनय से धर्म का प्रादुर्भाव होता है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को अनन्तानुबंधी मान होता है। सम्यक्दर्शन होने पर अनन्तानुबंधी मान का अभाव और उत्तम मार्दव धर्म प्रगट होता है।

ॐ नम: सिद्धम् संसार मान्य मंत्र है

–धर्म दिवाकर पू. श्री गुलाबचंद जी महाराज

ॐ नम: सिद्धम् ओम् स्वरूप को नमस्कार है, जो स्वयं सिद्ध है । यह नमस्कार व्यक्ति वाचक नहीं, गुणवाचक है । श्री तीर्थंकर जब दीक्षार्थ गमन करते हैं तब 'ॐ नम: सिद्धम्' यही नमस्कार करते हैं । यदि वे व्यक्ति के पुजारी होते तो अपने से पूर्व में हुए तीर्थंकरों को नमस्कार करते । किंतु उन्हें तीर्थंकरत्व अभीष्ट न था, उन्हें तो 'ॐ' स्वरूप अपना आत्मा ही अभीष्ट था । नमस्कार का एकमात्र प्रयोजन 'तद्गुणलब्धये' ही होता है ।

जैनधर्म का मूल सिद्धांत यही है । इसीलिए जैनधर्म स्वावलंबी है, परावलंबी नहीं । भगवान हमारा कल्याण करेंगे अथवा भगवान की पूजा से हमारा कल्याण हो जाएगा या हो रहा है, यह परावलंबता है, जैनधर्म के विरुद्ध मान्यता है, भ्रम है । आत्मा की पूजा याने आत्मगुणों की आराधना, भक्ति और विकास करना यह स्वावलंबिता है, जैन सिद्धांत है, सही मान्यता है । इसीलिए श्री तारण स्वामी ने ग्रन्थ के प्रारंभ में नमस्कार रूप मंगलाचरण ''ॐ नम: सिद्धम्'' इसी का किया है । और पूरे ग्रन्थ में आद्योपांत 'ॐ' स्वरूप स्वात्मा की पूजा, भक्ति, आराधना, नमस्कार, दर्शन, स्तुति करते हुए उसे विकास में लाने, दोष रहित करने व आत्मा में परमात्मभाव की जाग्रति करने के समस्त साधनों का वर्णन किया है । उनका आत्मा ही आराधक व आत्मा ही आराध्य देव था । आत्मा ही ध्यान, आत्मा ही ध्याता और आत्मा ही ध्येय था । आत्मा ही ज्ञान, आत्मा ही ज्ञाता और आत्मा ही ज्ञेय था । आत्मा ही दर्शन, आत्मा ही ज्ञान और आत्मा ही चारित्र था । आत्मगुण पूजा की सामग्री, आत्मभावनाएं पुजारी और आत्मा ही देव था । आत्मा ही आत्मा में आत्मा से आत्मा की शुद्ध परिणति लेकर आत्मा ही के लिए आत्मकल्याण को रमण करना था और यही मार्ग कल्याणकारी उनकी दृष्टि में था, जैनधर्मानुसार था अथवा जनहितकारी था।

जैनधर्म साम्प्रदायिक नहीं आत्मधर्म है । मानव तो क्या प्राणीमात्र के साथ वह धर्म न्यूनाधिक रूप से अपना प्रकाश कर रहा है और यथायोग्य हित भी कर रहा है, ऐसी उनकी विचारधारा थी । उनकी इस विचारधारा के प्रमाणस्वरूप उनके द्वारा रचित श्री अध्यात्मवाणी ग्रंथ है तथा जाति–पांति के भेदभाव रहित सब को अपनाना है । प्रत्येक धार्मिक और व्यवहारिक क्रियाओं में आत्म ज्ञान की पुट होना चाहिए यह उनका मूल मंत्र है । बिना आत्मभावना के समस्त क्रियाएं निरर्थक हैं, ऐसा उन्होंने प्रतिपादन किया है । श्री तीर्थंकरों के उपदेश को चिंतामणि

रत्न की उपमा देकर उस उपदेश के अपार गुण गाये, किंतु उनके शरीर और समवशरण जो कि उनके पुण्य की विभूति थी एक भी गुणगान नहीं किया, प्रत्युत उन गुणों को आत्मगुणों में घटाकर यह बताया कि आत्मगुण ही पूज्य व कल्याणकारी हैं ।

हमारी हो या श्री तीर्थंकरों की पुण्यविभूति हो, मोक्ष में साथ नहीं जाती और न पुण्यविभूति से आत्मकल्याण का कोई रंचमात्र संबंध ही है । आध्यात्मिक पुरुष तो पुण्यविभूति को आत्महित में बाधक मानता है, तब गुणगान क्यों ? जब हमारी दृष्टि का आकर्षण पुण्यविभूति की ओर खिंच जाता है तब स्वभावत: आत्मगुणों की ओर नहीं रहता; क्योंकि उपयोग एक ही रहता है, दो नहीं । इत्यादि अनेक स्वयं के विचारों व तत्त्वदृष्टि से तथा जैनधर्म का वास्तविक वर्णन जैसा कुंदकुंदादि सभी आचार्यों ने सिद्धांत ग्रंथों में वर्णन किया है उस अध्ययन के कारण मूर्ति की मान्यता नहीं की ।

श्री गांधी जी के हृदय में जैसा 'राम मंत्र' अंकित हो गया था और वही 'राम मंत्र' अंत समय उनके मुखारविंद से निकला था, इसी तरह श्री तारण स्वामी के हृदय में 'आत्म मंत्र' अंकित था जो उनके द्वारा रचित ग्रंथों में पाया जाता है । एक तारण स्वामी के हृदय में ही क्या प्रत्येक आध्यात्मिक महापुरुष के हृदय में 'आत्म मंत्र' अंकित हो जाता है, आत्म मंत्र का ही दूसरा नाम 'राम मंत्र' है । एक यही वह मंत्र जो पुरुष को महापुरुष और महापुरुष को मोक्षधाम में पहुंचाने की सामर्थ्य रखता है । यह मंत्र साम्प्रदायिक नहीं, संसारमान्य मंत्र है ।

(तारण वाणी से साभार)

उन्नति का सोपान : चिन्तन

जो जीव आत्म स्वरूप का चिन्तन नहीं करता और नाशवान विनाशीक वस्तुओं की चिन्ता करता है वह आत्म स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता, चिंता आकुलता–व्याकुलता को बढ़ाती है । चिन्तन आत्म शांति को प्रगट करता है । आत्म चिन्तन करके ही जीव सुखी रह सकता है । जिस प्रकार हम दुनियां की चिंता करते हैं उसी प्रकार अपना चिंतन करें तो सुख का अनुभव होगा । पापों को उत्साह पूर्वक करना संसार की चिंताएं करना दु:ख का कारण है । चिंतन ही आत्म उन्नति का एकमात्र मार्ग है ।

व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में–

ओम् नम: सिद्धम् और ओम् नम: सिद्धेभ्य:

अनादि निधन णमोकार महामंत्र में 'णमो सिद्धाणं' यह अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में है। इसमें 'सिद्धाणं' यह सिद्ध शब्द की षष्ठी विभक्ति है क्यों कि प्राकृत में चतुर्थी नहीं होती है। प्राकृत भाषा प्राकृतिक या नैसर्गिक होती है और संस्कृत भाषा संस्कारित या परिमार्जित होती है।

उपरोक्त मंत्र का अनुवाद दो प्रकार से हुआ, प्रथम 'नमस्करोमि सिद्धम्' और द्वितीय नम: सिद्धेभ्य: कालांतर में 'करोमि' इस क्रिया का लोप हुआ क्योंकि वर्तमान काल में प्रथम पुरुष एक वचन का रूप स्वयं (अहं) के लिए प्रयुक्त होता है वहां क्रियावाचक शब्द की उतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी द्वितीय पुरुष या तृतीय पुरुष में अन्य काल की क्रिया में होती है। अत: 'नम: सिद्धेभ्य:' ऐसा संक्षिप्त रूप रह गया है।

'नम: सिद्धेभ्य:' में नम: अव्यय है और पाणिनीय सूत्र 'नमस्स्वस्ति स्वाहा स्वधालंवषड् योगाश्च' २/३/१६ के अनुसार चतुर्थी हुई। अर्थ हुआ मैं सिद्धों को नमस्कार करता हूं। 'नम: सिद्धम्' का अर्थ हुआ मैं सिद्ध को नमस्कार करता हूं। अर्थात् सिद्ध शब्द का प्रयोग एक वचन में हुआ है।

यद्यपि 'सिद्धम्' शब्द एक वचन जैसा लगता है और एक सिद्ध अनंत और 'अदिदाणागद वट्टमाण कालत्तय सिद्धाणं सव्व सिद्धाणं णिच्च कालं णमंसामि' ऐसा आर्ष वचन सिद्ध भक्ति में आता है। और बहुवचन का अर्थ ही सिद्ध शब्द ध्वनित करता है यहां 'सिद्ध' शब्द संग्रहनय की अपेक्षा रखता है जैसे कि आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत देव ने वृहद् द्रव्यसंग्रह में लिखा है–

'जीवमजीवं दव्वं जिणवर वसहेण जेण णिद्दिट्ठं' और ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिल जायेंगे।

'सिद्धम्' शब्द का प्रयोग मात्र जैनियों की ही धरोहर मानना उचित नहीं होगा। एक सुभाषित में कहा है 'भो राजन् ! सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादत:। पश्याम्यहं जगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन्। एक याचक राजा के दरबार में जाकर कहता है, महाराज ! आपकी कृपा से मैं सिद्ध बन गया हूं किंतु मुझे कोई नहीं देखता अर्थात् मुझे कोई भिक्षा नहीं देता है।

सम्राट अशोक ने गुजरात में गिरनार में सिकता और पालादूनी नदियों को रोककर सुदर्शन सेतु बनवाया, जो बाद में अति वृष्टि में बह गया पश्चात् उस प्रांत के महाक्षत्रप (गवर्नर) रुद्रदामन ने दुरुस्त करवाया,उस दुरुस्तीकरण का

शिलालेख लिखवाया, जिसका आरंभ सिद्धम् शब्द से हुआ है। 'सिद्धम्' तद्राजं सुदर्शनं कारितम्' आदि यह ईसा पूर्व ३०० के पूर्व की बात है।

(Epigraphica India vol. VIII page 477)

भगवान महावीर के समकालीन या कुछ वर्ष बाद बौद्ध धर्म की स्थापना हुई, जिसके संस्थापक गौतम बुद्ध कहलाए, उनका पूर्व नाम 'सिद्धार्थ' था। सिद्धार्थ का अर्थ है जिसने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया है।

भारतीय वैदिक संस्कृति में भी सिद्ध शब्द का अनेकों बार प्रयोग हुआ है।

इसी श्रंखला में श्रीमद् जिन तारण स्वामी ने कहा है–

सिद्धं सिद्धि सदर्थं, सिद्धं सुद्धं च निम्मलं विमलं।
दर्सन मोहंध विमुक्कं, सिद्धं सुद्धं समायरहि॥

(ज्ञान समुच्चय सार गाथा–७०९)

अर्थ– सिद्ध पद की प्राप्ति ही (सदर्थ) प्रयोजनभूत है। यही सदर्थ अर्थात् रत्नत्रय मार्ग है। यह सिद्ध पर्याय शुद्ध है, निर्मल है, विमल है। दर्शन मोह से विमुक्त कराने वाली है अत: उस पर्याय को प्राप्त करने के लिए शुद्ध आचरण करो।

सिद्धम् सिद्ध सरूवं, सिद्धम् सिद्धि सौष्य संपत्तं।
नंदो परमानंदो, सिद्धो सुद्धो मुनेअव्वा ॥ ७०३ ॥

ऊपर में सिद्ध अवस्था प्राप्त करने की विधि ७०९ वीं गाथा में और १४ वें गुणस्थान का वर्णन ७०३ नं. की गाथा में किया है। उसी प्रकार 'ॐ नम: सिद्धम्' (खातिका विशेष सूत्र–१) ॐ नम: सिद्धि मुक्ति प्रसाद ते, साह सह धुव अस्थान काल कोड़ि जा (खातिका विशेष सूत्र–८१) तथा श्री खातिका विशेष का आरंभ 'ओम् नम: सिद्धम् और ॐ नम: उवन सिद्ध नमो नम: (छद्मस्थ वाणी जी द्वितीय अधिकार सूत्र–१) और ॐ नम: सिद्धम् तृतीय अधिकार में, ॐ नम: सिद्धम् चतुर्थ अध्याय में आया है।

ॐ नम: सिद्धम् में मेरे विचार से ओम् शब्द स्वस्ति वाचक है और 'नम: सिद्धम्' में ही वाक्य पूरा हो जाता है। यदि हम ओम् नम: इतना ही वाक्य ले लें तो भी वाक्य पूरा हो जाता है।

स्पष्ट है कि ओम् में पंच परमेष्ठी गर्भित हैं, अत: ओम् नम: में ही सिद्धों को नमस्कार हो चुका है। उदाहरणार्थ– उवं नम: विन्दते जोगी।

(पंडित पूजा जी गाथा–३)

ओम् शब्द स्वस्ति वाचक है जो किसी भी धार्मिक ग्रंथ के पठन के आदि और अंत में उच्चारण किया जाता है। ओम् शब्द का अव्यय रूप में प्रयोग गंभीरता

से हामी (yes) भरने के लिए किया जाता है।

(आपटे का संस्कृत अंग्रेजी शब्द कोश पृ. ३१९)

शब्द की तीन शक्तियां कही गयी हैं १. अभिधा २. लक्षणा और ३. व्यञ्जना। यहां अभिधा से अपने निजात्मा का बोध नहीं होता यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। और न ही जहद्, अजहद् और जहदाजहद् लक्षणा से। व्यञ्जना से भी नहीं क्योंकि यहां ऐसा कोई व्यञ्जक शब्द उपस्थित नहीं है जो शुद्ध कार्य पर्याय को छोड़कर कारण शुद्ध पर्याय की व्यञ्जना करे।

यहां अनुमान भी काम नहीं करता जो शुद्ध कारण पर्याय की ओर इंगित करे। अनुमान के लिए जाति प्रतिज्ञा और व्यक्ति प्रतिज्ञा की आवश्यकता होती है जिसे क्रमश: General enunciation और Particular enunciation कहते हैं। अत: इस कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता। उदाहरणार्थ– प्रवचनसार की ८० नंबर की गाथा जो अरहंत को द्रव्य गुण पर्याय से जानता है वह अपने आत्मा को जानता है, तात्पर्य यह है कि अरहंत प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, सुने जाते हैं (सिद्धों को नहीं) कि उनकी पर्याय शुद्ध क्यों और कैसे हुई। उत्तर में सिद्धान्त: कह सकते हैं कि वह शुद्धता आत्मा में विद्यमान है तब तो कर्म मल झड़ने पर पर्याय में शुद्धता आई है। अत: हम भी उस शुद्धता का अपने आत्मा में अनुमान करें और हम भी उसका साधन (रत्नत्रय) जुटायें। इसलिए यह गाथा हमारे कारण परमात्मा का अनुमान कराती है। अरहंत के द्रव्य गुण पर्याय General enunciation और मेरे आत्मा के द्रव्य गुण पर्याय Particular enunciation है। और वैसा मैं शुद्ध हूं यह अनुमान Inference है। ज्ञानी की ध्यान की प्रक्रिया में उपयोग एक समय अपने आत्मा की ओर, दूसरे समय में किसी परमेष्ठी की ओर जाता है और ऐसा बदलाव निरंतर चलता रहता है। ध्यान किस मंत्र के द्वारा हो रहा है यह बात गौण हो जाती है। वह ओम् हो या ओम् नम: या ओम् नम: सिद्धम् हो या ओम् नम: सिद्धेभ्य: हो या अन्य कोई भी मंत्र हो। क्यों कि 'अमंत्रमक्षरं नास्ति' यह उक्ति पदस्थ ध्यान को सार्थक करती है।

शब्द व्याकरण और एवंभूतनय की अपेक्षा ध्यान में रखते हुए उपरोक्त विचार मैंने रखे हैं। यह विचार मेरे अपने निजी हैं। इसमें किसी पक्ष व्यामोह का कोई स्पर्श नहीं है। इन विचारों के शब्दांकन से किसी का अनादर हो ऐसी भी भावना नहीं है। मैंने ॐ नम: सिद्धम् के संबंध में अपने स्वयं के चिंतन का शब्दांकन किया है।

रामटेक
दिनांक १४–१–२००३

गेंदालाल जैन

तारण पंथ की साधना

भेदज्ञान – इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखण्ड अविनाशी चैतन्य तत्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं।

तत्व निर्णय – जिस जीव का जिस द्रव्य का जिस समय जैसा जो कुछ होना है, वह अपनी तत्समय की योग्यता अनुसार हो रहा है और होगा, उसे कोई भी टाल फेर बदल सकता नहीं।

वस्तुस्वरूप – मैं ध्रुव तत्व शुद्धात्मा हूं, यह एक–एक समय की चलने वाली पर्याय और जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन क्रमबद्ध निश्चित अटल है, इससे मेरा कोई संबंध नहीं है।

द्रव्य दृष्टि – द्रव्य को सत्स्वरूप से देखना।

जो साधक इस साधना पथ पर चलता है वह तारण पंथी अर्थात् मोक्षमार्गी है।

मंत्र सार

- ☼ राख से बर्तन शुद्ध होता है, खटाई से तांबे का बर्तन और धारा के बेग से नदियाँ शुद्ध होती हैं इसी प्रकार मंत्र जप से मन शुद्ध होता है।
- ☼ हाथी केवल अंकुश से, घोड़ा हाथ (चाबुक) से, सींग वाला जानवर लाठी से और दुष्ट मनुष्य को तलवार से वश में किया जाता है, इसी प्रकार चंचल मन को वैराग्य और मंत्र जप आदि के अभ्यास से वश में किया जाता है।
- ☼ अपनी स्त्री, भोजन और धन इन तीनों में संतोष करना चाहिये; किंतु विद्या पढ़ना, जप करना–कराना और दान देना इन तीनों में संतोष नहीं करना चाहिये।
- ☼ मंत्र जप स्मरण तत्त्व चर्चा करने से ज्ञान ध्यान की सिद्धि होती है और उनसे उत्तम आचरण स्वत: होने लगता है।
- ☼ मंत्र जप के सतत् अभ्यास से जीवन मधुरता से भर जाता है, सुखमय बन जाता है, आत्म शांति का अनुभव होता है और अनेक विशेषतायें प्रगट होती हैं।
- ☼ समय, समझ, साम्रगी, और सामर्थ्य इन चारों को अपने में लगाना सदुपयोग है और पर में लगाना दुरुपयोग है।
- ☼ मंत्र जप और ध्यान आत्म साक्षात्कार करने के उपाय हैं, इससे आत्म ज्योति का दर्शन होता है और आत्म तत्त्व परमात्म स्वरूप में लय होता है।
- ☼ मौन के समय यथासंभव शांतचित्त होकर ध्यान और मंत्र जप ही करना चाहिए।
- ☼ ध्यान की चरम अवस्था में साधक आनंद महोदधि में निमग्न हो जाता है।
- ☼ अस्त–व्यस्त ध्वस्त एवं भग्न मन को शांत सुखी और स्वस्थ करने के लिए मंत्र जप और ध्यान सर्वश्रेष्ठ औषधि है।
- ☼ मनुष्य जन्म सब जन्मों का अंतिम जन्म है, इस जन्म में संसार से सदा के लिए मुक्त होने का मौका मिला है, इस मौके को हाथ से नहीं गंवाना चाहिए।
- ☼ मन अत्यंत चंचल है और प्रति समय संसार के सब्ज बाग दिखाता रहता है, इसको वश में करने का और आत्म शुद्धि का सबसे उत्तम साधन मंत्र जप है।

❖❖❖

मंत्र का स्वरूप

अक्षर अथवा अक्षरों के समूह को मंत्र कहते हैं। ''निर्बीजमक्षरं नास्ति'' अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नहीं है जिसमें शक्ति न हो। शब्द की शक्ति अपरिमित है और उसका अनुभव हमें अपने जीवन में होता रहता है। शब्दों का मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। जैसे–कोई व्यक्ति हमसे कुछ भला–बुरा कह दे तो मन में उसी बात को लेकर अनेक प्रकार की तरंगें उठती हैं, इसी प्रकार मंत्र रूप शब्दों के द्वारा अंतर में शुभता का जागरण, एकाग्रता, समता का अनुभव होता है। इसीलिए कहा भी है –

शब्द संभारै बोलिये, शब्द के हाथ न पांव।
एक शब्द से औषधि, एक शब्द से घाव॥

अक्षर और शब्दों से मिलकर ही मंत्र बनते हैं। कभी–कभी संत सद्गुरु सांकेतिक रूप में कुछ युक्तियां बता देते हैं। जिज्ञासु के लिए वह युक्तियां मंत्र की तरह कार्य करती हैं। बुजुर्गों के अनुभव भी सावधान पुरुष के लिए मंत्र की तरह उपयोग में आते हैं।

महाभारत के युद्ध की घटना है कि जब कर्ण और अर्जुन का युद्ध हुआ तो कर्ण के सारथी शकुनि ने कुंती को दिए गए अपने वचन के अनुसार कर्ण को हराने का एक सरल मार्ग अपनाया। जब अर्जुन बाण छोड़ता था तो वह चिल्लाता था ''वाह अर्जुन'' और जब कर्ण बाण छोड़ता था तब वह उसे झिड़कते हुए कहता था– ''छि:''। इस उत्साह और अनुत्साहकारक वाक्यों ने एक को जिता दिया और दूसरे को हरा दिया, अत: शब्द की शक्ति अपरिमित है।

अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्य: पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभ: ॥

अर्थ– कोई अक्षर ऐसा नहीं जो मंत्र न हो, कोई पेड़ की जड़ ऐसी नहीं जो औषधि न हो और कोई पुरुष ऐसा नहीं जो योग्य न हो, किंतु ''योजकस्तत्र दुर्लभ:'' योजक तो दुर्लभ ही होता है। किन शब्दों के मिलाने से किस प्रकार की शक्ति पैदा होती है, इसको जानकर उन शब्दों की योजना करना ही दुर्लभ कार्य है, किंतु ज्ञानी योगी साधकों के जीवन में यह सुलभ होता है। जो मंत्र दृष्टा या उसके आविष्कर्ता होते हैं वे इस प्रकार की समायोजना करके अक्षरों का मेल मिलाकर अक्षरों को मंत्र का रूप देते हैं और अपनी अंतर्भावना को उस साधन से सिद्धि तक पहुंचने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उन अक्षरों के मेल से उस प्रकार की कार्य साधक शक्ति प्रगट होती है, किंतु मंत्र में केवल अकेले ही शब्द शक्ति कार्य नहीं करती बल्कि अन्य शक्तियां भी कार्य करती हैं। वे अन्य शक्तियां हैं– मंत्र का

वाच्य पदार्थ, मंत्र के योजक की आत्मीक भावना जो उसके द्वारा योजित मंत्र में सदा अनुस्यूत रहती है और मंत्र के जपकर्ता की आत्मीक भावना आदि।

अभिप्राय यह है कि पद, पदार्थ और पदों के योजक की आध्यात्मिक शक्ति का समन्वय ही मंत्र है। यह तीनों जैसे होते हैं, मंत्र की शक्ति भी वैसी होती है। शब्द के पीछे उसके स्मरण, जपकर्ता की आध्यात्मिक शक्ति का बल होना जरूरी है। उसके बिना कोरे शब्द मात्र कुछ नहीं कर सकते। यह आध्यात्मिक शक्ति ही साधना में उपयोगी है। जैसे– मुनि के शरीर से निकलने वाला तैजस शरीर शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। दोनों के लिए मुनि का उत्कृष्ट तपस्वी होना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना इस प्रकार की विशेष योग्यता, विशेषता उत्पन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार मंत्र शक्ति के विषय में भी समझना चाहिए। अंतर केवल इतना ही है कि अनिष्टकारक मंत्र शक्ति का प्रयोग उसके प्रयोगकर्ता के लिए भी अनिष्टकारक ही होता है क्योंकि **दूसरे का बुरा करने वाले का भला कभी नहीं हो सकता।**

अज्ञानी जीव का आचरण मिथ्यादर्शन, ज्ञान के कारण विपरीत होता है,उसे अपने हिताहित का भी विवेक नहीं होता किंतु सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक योगीजनों को सम्यक्दर्शन ज्ञान होने से उनके अंतस् में स्व–पर, हित–अहित का विवेक होने से ज्ञानी कभी दूसरों का बुरा विचारता ही नहीं है, वह सबके प्रति प्रेम वात्सल्य से भरा होता है। उसके हृदय में जगत के सभी जीवों के प्रति मैत्री और करुणा भाव होता है।

ज्ञानी साधक मंत्र शक्ति का सदुपयोग भी अपने आत्मकल्याण के लक्ष्य से अपने लिए, अपने मुक्त होने के लिए करता है। इस प्रकार मंत्र अक्षर या अक्षरों का समूह है। जिसमें साधक के अंतर भावों की एकाग्रता होने पर वह ज्ञानी के लिए आत्म शुद्धि, आत्म कल्याण करने में बहुत बड़ा साधन बन जाता है।

मंत्र, शास्त्र की दृष्टि से

शब्द अथवा शब्दों में संस्थापित दिव्यत्व एवं आध्यात्मिक ऊर्जा ही मंत्र है। किसी ऋषि अथवा स्वयं ईश्वर तीर्थंकर द्वारा अपनी तप: पूत वाणी में इन मंत्रों की रचना की जाती है। इन मंत्रों का प्रभाव युग युगान्तर तक बना रहता है। मंत्र में निहित शब्द, अर्थ और स्वयं मंत्र साधन है। मंत्र के द्वारा शुद्धतम आत्मोपलब्धि (मुक्ति) एवं लौकिक सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। मंत्र का प्रमुख लक्ष्य आध्यात्मिक विशुद्धता ही है, मंत्र में निहित ईश्वरीय गुणों और शक्तियों का पवित्र

मन और शुद्ध वचन से मनन एवं जप करने से मानव का सभी प्रकार का त्राण होता है और उसमें अपार बल का संचय होता है । शब्दों में सम्पुटित दिव्यता ही मंत्र है। मंत्र के निम्नलिखित अंग होते हैं– मंत्र का एक अंग ऋषि होता है, जिसे इस मंत्र के द्वारा सर्वप्रथम आत्मानुभूति हुई और जिसने जगत को यह मंत्र प्रदान किया। मंत्र का द्वितीय अंग छन्द होता है जिससे उच्चारण विधि का अनुशासन होता है। मंत्र का तृतीय अंग देवता है जो मंत्र का अधिष्ठाता है। मंत्र का चतुर्थ अंग बीज होता है जो मंत्र को शक्ति प्रदान करता है। मंत्र का पंचम अंग उसकी समग्र शक्ति होती है, यह शक्ति ही मंत्र के शब्दों की क्षमता है। यह सब मिलकर मानव को उपास्य देवता, इष्ट की प्राप्ति करवा देते हैं। मंत्र केवल आस्था पर आधारित नहीं हैं। इनमें कोरी कपोल कल्पना करने की प्रवृत्ति नहीं है। मंत्र वास्तव में प्रवृत्ति की ओर नहीं अपितु निवृत्ति की ओर ही मानव की चित्त वृत्तियों को निर्दिष्ट करते हैं। मंत्र विज्ञान को समझकर ही मंत्र क्षेत्र में आना चाहिये। शब्द और चेतना के घर्षण से नई विद्युत तरंगें उत्पन्न होती हैं। मंत्र विज्ञान इसी घार्षणिक विद्युत ऊर्जा पर आधारित है। मंत्र से वास्तव में हम शक्ति बाहर से प्राप्त नहीं करते अपितु हमारी सुषुप्त अपराजेय चैतन्य शक्ति जागृत एवं सक्रिय होती है।

मंत्र का व्युत्पत्यर्थ एवं व्याख्या

मंत्र शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है। इस शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जा सकती है और कई अर्थ भी प्राप्त किये जा सकते हैं –

मंत्र शब्द 'मन्' धातु (दिवादिगण) में ष्ट्रन (त्र) प्रत्यय लगाकर बनता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ होता है– ''जिसके द्वारा आत्मा का आदेश अर्थात् स्वानुभव या साक्षात्कार किया जाए वह मंत्र है।

दूसरी व्युत्पत्ति में मन् धातु का 'विचारपरक' अर्थ लगाया जा सकता है और तब अर्थ होगा– मंत्र वह है जिसके द्वारा आत्मा की विशुद्धता पर विचार किया जाता है।

तीसरी व्युत्पत्ति में मन् धातु को सत्कारार्थ में लेकर अर्थ किया जा सकता है– मंत्र वह है जिसके द्वारा महान आत्माओं का सत्कार किया जाता है।

इसी प्रकार मन् को शब्द मानकर (क्रिया न मानकर) त्राणार्थ में त्र प्रत्यय जोड़कर पुल्लिग मंत्र शब्द बनाने से यह अर्थ प्रगट होता है कि मंत्र वह शब्द शक्ति है जिससे मानव मन को लौकिक एवं पारलौकिक त्राण (रक्षा) मिलता है।

मंत्र वास्तव में उच्चरित किए जाने वाला शब्द मात्र नहीं है, उच्चार्यमान

मंत्र, मंत्र नहीं है। मंत्र में विद्यमान अनंत एवं अपराजेय अध्यात्म शक्ति परमेष्ठी शक्ति एवं दैवी शक्ति ही मंत्र है। अत: मंत्र शब्द में मन् + त्र यह दो शब्द क्रमश: मनन चिंतन और त्राण अर्थात् रक्षा और शुभ का अर्थ देते हैं। मनन द्वारा मंत्र से पाठक को आध्यात्मिक आत्म गुणों की अनुभूति होती है। इससे शक्तिशाली होकर वह कष्टप्रद सांसारिकता से त्राण पाने में समर्थ होता है।

मंत्र शब्द का एक विशिष्ट अर्थ भी ध्यान देने योग्य है। मन् अर्थात् चित्त की त्र अर्थात् तृप्त अवस्था अर्थात् पूर्ण अवस्था अर्थात् आत्म साक्षात्कार की सिद्ध के समान निर्विकल्प अवस्था ही मंत्र है। वास्तव में चित्तशक्ति चैतन्य की संकुचित अवस्था में चित्त बनती है और वही विकसित होकर चिति (विशुद्ध आत्मा) बनती है। चित्त जब बाह्य वेद्य समूह को उपसंहृत करके अंतर्मुख होकर चिद्रूपता के साथ अभेद विमर्श संपादित करता है तो यही उसकी गुप्त मंत्रणा है, जिसके कारण उसे मंत्र की अभिधा मिलती है। अत: मंत्र देवता के विमर्श में तत्पर तथा उस देवता के साथ जिसने सामरस्य प्राप्त कर लिया है ऐसे आराधक का चित्त ही मंत्र है, केवल विचित्र वर्ण संघटना ही नहीं।

मंत्र आत्मज्ञान और परमात्म सिद्धि का मूल कारण है, परंतु यह तभी संभव हो सकता है जब ज्ञान हृदयस्थ हो जाए और आचरण में ढल जाए। महात्मा गांधी ने उचित ही कहा है–''अगर यह सही है और अनुभव वाक्य है तो समझा जाए कि जो ज्ञान कंठ से नीचे जाता है और हृदयस्थ होता है, वह मनुष्य को बदल देता है आवश्यकता यह कि वह ज्ञान आत्म ज्ञान हो।'' जिसका पाठ मात्र करने से कार्य सिद्ध हो जाते हैं उसे मंत्र कहते हैं। जिसको नियम साधना पूर्वक जप आदि करके सिद्ध करना पड़ता है उसे विद्या कहते हैं।

जैन ग्रंथों में विद्या और मंत्र में यही भेद बताया है। ऐसा कहा भी जाता है कि जिसकी अधिष्ठातृ देवता स्त्री होती है वह विद्या है और जिसका अधिष्ठातृ देवता पुरुष होता है वह मंत्र है। चौदह पूर्व के अंतर्गत विद्यानुवाद नाम के पूर्व में अनेक विद्याओं और मंत्रों के होने का वर्णन ग्रंथों में पढ़ने में आता है।

वर्तमान भौतिक युग में यह सभी विद्यायें लुप्त हो गई हैं। अतीत के इतिहास से विदित होता है कि प्राचीन भारत में मंत्र साधना का बहुत जोर था और अनेकों मंत्र जपकर्ता सच्चे साधक थे। इन विद्याओं के लुप्त होने का कारण यह है कि मंत्र साधना का दुरुपयोग करने अथवा मंत्र आदि की आड़ में ठग विद्या का आश्रय लेने से यह विद्या बदनाम भी हुई और लुप्त भी हो गई।

मंत्र जप साधना का मुख्य लक्ष्य आत्मशांति और आत्म कल्याण होता है, बाह्य प्रदर्शन और धंधा चंदा करना नहीं। शास्त्रों में अनेक मंत्र और विद्याओं का

उल्लेख मिलता है किंतु इनके जप साधना स्मरण करने में स्व लक्ष्य ही प्रमुख है।

मंत्र शास्त्र की दृष्टि से यह मंत्र अपने आपमें अलौकिक है। यह 'महतो महीयान' और 'लघुतो लघीयान' है अर्थात् जहां यह कुछ अर्थों में महान से भी महान है वहीं कुछ अर्थों में लघु से भी लघु है। एक ओर इसकी शक्ति अतुल है, दुनियाँ की ऐसी कोई रिद्धि सिद्धि नहीं है जो इसके द्वारा प्राप्त न की जा सके किंतु साधक का लक्ष्य उन सबकी ओर से निष्काम होना जरूरी है। कामना करके मंत्र की आराधना करने से उसकी प्राप्ति में संदेह है परंतु निष्काम होकर मंत्र की साधना करने से उसकी प्राप्ति निश्चित है। जहां संसार के अन्य मंत्र कामना करने से उसकी पूर्ति करते हैं वहीं यह मंत्र निष्काम होने से सारी कामनाओं की पूर्ति करता है। इसका कारण यह है कि यह मंत्र प्रथम तो उस महती आत्मशक्ति की प्रतिध्वनि है जो अंतर से उठती है। दूसरी बात निष्काम रूप से जपने से उपार्जित होने वाला पुण्य सब कार्य होने में निमित्त बनता है। चाहने से कार्य नहीं होता, पुण्योदय के बिना जिस वस्तु को चाहो वह और दूर होती है क्योंकि जिसकी कामना करो, इच्छा करो वह नहीं मिलता और दूर भागता है किंतु जिसे न चाहो, उपेक्षा करो वह पीछे–पीछे घूमता है। कहा भी है –

माया की गति छाया जैसी, धरै चले तो धावे।
ताहि छोड़ जो भाग चले तो, पीछे पीछे आवे॥

आचार्य समंतभद्र महाराज ने लिखा है –

विभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो,
नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभ:।
तथापि बालो भय काम वश्यो,
वृथा स्वयं तत्यत इत्यवादी:॥
॥ वृहत् स्वयंभू स्तोत्र॥

प्राणी मौत से डरता है, विष्ठे का कीड़ा भी मरना नहीं चाहता,किंतु उससे किसी का छुटकारा नहीं है। सभी को मौत के मुंह में जाना ही पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य सदा इस बात की इच्छा करता है कि कभी भी मेरा कोई अनिष्ट न हो सदा शुभ ही शुभ हो, किन्तु उसकी यह कामना पूरी नहीं होती, इसके साथ अनिष्ट भी लगा ही रहता है फिर भी यह मूर्ख प्राणी व्यर्थ ही भय और कामना के चक्कर में पड़कर क्लेश भोगता है।

अत: इच्छा व्यर्थ है क्योंकि जो हम चाहते हैं वह होता नहीं और जो होता है वह हम चाहते नहीं। जो होता है वह भाता नहीं, और जो भाता है वह होता

नहीं, संसार का ऐसा ही स्वरूप है यह सब अपने अनुभव से ही प्रमाण कर अपना जीवन समता शांति आनंद मय हो जाये यही प्रयोजनीय है।

संसार की यह विचित्रता देखकर ही मंत्र दृष्टा ऋषियों ने विश्व को यह अमूल्य सीख दी है कि –

त्यज्यते रज्यमानेन , राज्येनान्येन वा जन:।
भज्यते त्यज्यमानेन, तत्त्यागोऽस्तु विवेकिनाम् ॥
॥ क्षत्र चूड़ामणि ॥

अनुरक्त होने से राज्य सम्पदा या अन्य विभूति स्वयं मनुष्य को छोड़ देती है और विरक्त होने से उसके चरणों में लोटती है अत: विवेकी पुरुषों को उसका त्याग कर देना ही उचित है।

मंत्र के द्वारा जिस इष्ट की आराधना की जा रही है वह पूर्ण वीतरागी निस्पृह है। ऊपर जो शिक्षा है वह उनकी ही देन है, उन्हीं के अनुभव का सार है। उस स्वरूप का विवेचन आगे किया गया है उसकी महिमा का बोध उस विवेचन से होगा कि वह परमात्मा और सिद्ध स्वभाव कितना पुनीत, कितना विशुद्ध और कल्याणकारी है। उन्हीं सिद्ध परमात्मा और सिद्ध स्वभाव की शक्ति का ही यह प्रताप है जो यह मंत्र इतना अद्वितीय है, क्योंकि जड़ की शक्ति से चेतन की शक्ति अपरिमित है। जड़ की शक्ति तो चेतन के हाथ का खेल है वही उसका आविष्कर्ता है और वही उसका रोधक भी है अत: परिपूर्ण आत्म शक्ति से युक्त महापुरुषों की आराधना एवं सिद्ध स्वभाव की अनुभूति से निष्पन्न होने के कारण ॐ नम: सिद्धम् मंत्र अन्य मंत्रों से विशिष्ट है।

इसकी विशेषता यह है कि प्राय: मंत्र अत्यंत गूढ़ार्थक होते हैं। उनकी शब्द रचना ऐसी होती है कि उनका उच्चारण करना भी कठिन होता है फिर अर्थ की बात तो दूर है। अच्छे–अच्छे मंत्र वेत्ता और साधक भी उनके अर्थ से अपरिचित होते हैं किंतु यह मंत्र इतना सरल है कि सामान्य मनुष्य भी सरलता से इसका अर्थ ग्रहण कर लेता है।

'' ऊंकार मयी सिद्ध परमात्मा के समान निज सिद्ध स्वभाव को (स्वानुभूति पूर्ण) वंदन नमस्कार है।''इस अर्थ को ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं है। इस मंत्र की सरलता देखकर कोई यह कहे कि यह तो मंत्र ही नहीं है, कुछ शब्द और वाक्यों का समूह मात्र है, किंतु ऐसी आशंका उचित नहीं है क्योंकि जिस मंत्र का जैसा कार्य होता है उसकी शब्द रचना भी उसी के अनुरूप होती है। यह मंत्र सिद्धि दाता है अत: उसी के अनुरूप उसकी शब्द रचना भी है ।

साधना और मंत्र

मंत्र जप के संबंध में श्री नेमिचंद्राचार्य महाराज ने द्रव्य संग्रह ग्रंथ में लिखा है –

पणतीस सोल छप्पण, चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठि वाचयाणं, अण्णं च गुरुवएसेण॥

पैंतीस अक्षर का मंत्र, सोलह अक्षर का मंत्र, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षर के जो परमेष्ठी वाचक मंत्र हैं उनका ध्यान करना चाहिए। गुरु के उपदेश और आज्ञा से अन्य मंत्रों का भी ध्यान करना चाहिए।

पैंतीस अक्षर का मंत्र – णमोकार मंत्र

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं

सोलह अक्षर का मंत्र– अरहंत सिद्ध आइरिया उवज्झाया साहू।
अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो नम:।

छह अक्षर का मंत्र – ॐ नम: सिद्धेभ्य:, अरहंत सिद्ध, ॐ ह्रीं अर्हं नम:।

पांच अक्षर का मंत्र – ॐ नम: सिद्धम्
अ सि आ उ सा

चार अक्षर का मंत्र – अरहंत, अर्हत्सिद्ध

दो अक्षर का मंत्र – सिद्ध, अर्हं

एक अक्षर का मंत्र – ॐ, ओं, अ

इन मंत्रों के अलावा अन्य मंत्रों का भी जप किया जाता है। अशुभ भाव और पाप से बचने के लिए भावों की शुभता एवं धर्म प्राप्ति का पथ प्रशस्त करने में मंत्र जप श्रेष्ठ साधन है।

जैन धर्म में मंत्रों की बहुलता को देखकर यह सिद्ध होता है कि जैनाचार्य मंत्र विद्या के ज्ञाता रहे। जिस काल में भारत में मंत्रवाद की प्रधानता थी उस काल के प्रभाव से जैन भी अछूते नहीं रहे हैं और उन्होंने भी इस ओर ध्यान देकर मंत्र साहित्य को विकसित किया। इसका कारण यह संभव है कि मानव समाज में चमत्कार को नमस्कार करने की सहज प्रवृत्ति देखी जाती है, उसे थोड़ा सा भी चमत्कार दिखाकर एक इन्द्रजालिया भी मोहित कर लेता है। फिर मंत्र वादियों का

तो कहना ही क्या है ? अत: चमत्कार प्रिय भोले भव्य जीवों को चमत्कारों के चक्कर में पड़कर पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिए और जैन मंत्र विद्या की आध्यात्मिक यथार्थता से परिचित कराने के लिए आचार्यों को इस ओर अपना उपयोग लगाना पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है, किंतु यह स्पष्ट है कि वीतरागी संतों आचार्यों का इस विद्या के प्रति लौकिक ख्याति आदि की अपेक्षा आदर भाव कभी नहीं रहा। उन्होंने इसका उपयोग जिन शासन की रक्षा प्रभावना और जीवों को सन्मार्ग में लगाने के लिए ही किया जो पूर्णत: नि:स्वार्थ धर्म प्रेम को व्यक्त करता है।

ज्ञानी आचार्य सत्पुरुषों का मंत्र विद्या के प्रति कोई लौकिक आकर्षण न होने का कारण है कि जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष का अभिलाषी मुमुक्षु योगी ज्ञानी साधक एक मात्र निज शुद्धात्म स्वरूप की इष्टता पूर्वक मोक्षमार्ग में प्रीति पूर्वक गमन करता है। व्यवहार में वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी परमात्मा सच्चे देव की भक्ति आराधना करता है। वह रागी–द्वेषी देवताओं की उपासना और मिथ्याभाव से पूर्ण आडंबर और प्रपंचों में कभी नहीं पड़ता। यदि ऐसा करे तो वह मोक्षाभिलाषी ही नहीं है।

वीतरागता ही धर्म है। आत्मकल्याण के मार्ग में वीतरागी होने के लक्ष्य से ही साधना आराधना की जाती है। राग के लक्ष्य या राग की पूर्ति के लक्ष्य से कोई भी वीतरागी नहीं हो सकता। यह साधना का मार्ग अत्यंत सूक्ष्म है। वीतरागता का साधक रागरूप किसी भी प्रपंच में नहीं पड़ता क्योंकि यह उसका लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य तो वीतरागी ज्ञानी और मुक्त होने का है।

मोक्ष की प्राप्ति की अंतर्भावना से आत्म साधना करते हुए यदि अनायास उसे कोई ऋद्धि सिद्धि प्राप्त भी हो जावे तो भी वह उस ओर दृष्टि नहीं देता। वह उस ओर से उदासीन होकर अपने लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखता है, भूलकर भी उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता, क्योंकि यह लौकिक ऋद्धि सिद्धियाँ मोक्ष की साधक नहीं होती हैं।

जब हस्तिनापुर में राजा पद्म से राज्य लेकर राजा बलि ने अकम्पनाचार्य महाराज और उनके संघ के सात सौ मुनियों पर उपसर्ग किया वह श्रावण सुदी पूर्णमासी का दिन था,इससे आकाश में श्रवण नक्षत्र का उदय हुआ था। साधुओं के साथ ऐसा अन्याय होने से वह नक्षत्र भी कांपने लगा। उसे कांपता देखकर मिथिलापुरी में भ्राजिष्णु क्षुल्लक ने ज्योतिष विद्या से जाना कि कहीं मुनियों पर उपसर्ग हो रहा है और उन्होंने यह बात अपने गुरु विष्णुसूरी से कही, उन्होंने अपने ज्ञानबल से जानकर कहा कि अकम्पनाचार्य के संघ पर बलिराजा ने बड़ा उपद्रव किया है तब पुष्पदंत विद्याधर को बुलाकर कहा कि विक्रिया ऋद्धि धारक

विष्णु कुमार मुनि धरणी भूषण पर्वत पर साधनारत हैं उनसे जाकर कहो कि इस उपसर्ग का निवारण करें। पुष्पदंत तुरंत ही उनके पास गया और सब कह सुनाया। उन विष्णुकुमार मुनि को यह मालूम ही न था कि मुझे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई है। उन्होंने उसकी परीक्षा की और हस्तिनापुर जाकर मुनि संघ के उपसर्ग को दूर किया।

ज्ञानी वीतरागी संत साधकों को ऋद्धि सिद्धि की अपेक्षा नहीं होती, जब कि साधना के प्रभाव से वे उनके चरणों में लोटती हैं फिर भी उन्हें उनसे प्रयोजन नहीं रहता। विष्णुकुमार मुनिराज को विक्रिया ऋद्धि सिद्धि हो गई और उन्हें उसका पता ही नहीं हुआ, जब विद्याधर के बताने पर उन्होंने हाथ बढ़ाकर देखा तब निश्चय हुआ।

भर्तृहरि और शुभचंद्राचार्य महाराज का उदाहरण भी आता है कि भर्तृहरि स्वर्ण रस की सिद्धि कर जब शुभचंद्राचार्य महाराज के पास गये, उन्हें दिगम्बर दशा में देखकर भर्तृहरि जी दुखित हुए और स्वर्ण रस दिया, शुभचंद्राचार्य महाराज ने कहा– यदि सोना चांदी बनाना और इसको ही प्राप्त करना था तो राज्य में क्या कमी थी ? साधना तो आत्मा को स्वर्ण सम शुद्ध बनाने के लिए की जाती है ऐसा कहकर भर्तृहरि को समझाया किंतु भर्तृहरि ने पूछा कि मैंने तो स्वर्ण रस की सिद्धि प्राप्त कर ली, आपने क्या किया ? शुभचंद्राचार्य महाराज ने सहज भाव से पैर तले की धूल चुटकी भर उठाकर चट्टान पर डाली और वह चट्टान सोने की हो गई।

भर्तृहरि, शुभचंद्राचार्य महाराज के वीतराग भाव की महिमा देखकर क्षमा याचना करने लगे।

अभिप्राय यह है कि साधना से ज्ञानी योगीजनों को अनेक प्रकार की सिद्धियां प्रगट भी हो जावें तो भी उन्हें कोई अपेक्षा और सांसारिक ख्याति लाभ का कोई प्रयोजन नहीं होता। उनका लक्ष्य एक मात्र संसार से मुक्त होने का, अविनाशी परमानन्दमयी मुक्ति पद प्राप्त करने का रहता है।

ज्ञानी जानता है कि इस तरफ बाहर की ओर देखूंगा तो मैं अपने लक्ष्य से च्युत हो जाऊंगा अत: वह झूठे सभी प्रलोभनों से बचता है। वह किसी की परवाह किए बिना अपने मार्ग में आगे बढ़ता चला जाता है और अंत में सिद्धि को प्राप्त करता है, जिसे प्राप्त करके फिर कुछ भी प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रहती।

जैन धर्म में एक साधु की तो बात ही क्या, एक सच्चे ज्ञानी आत्मार्थी की दृष्टि में भी लौकिक ऋद्धि–सिद्धियों का कोई महत्त्व नहीं रहता वह भी उनकी कोई परवाह नहीं करता।

महत्त्व, प्रयोजन और फल

मंत्र का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि –

मंत्रं संसारसारं त्रिजगदनुपमं सर्व पापारिमंत्रं।
संसारोच्छेदमंत्रं विषमविषहरं कर्मनिर्मूलमंत्रं॥
मंत्रं सिद्धि प्रदानं शिव सुख जननं केवलज्ञानमंत्रं।
मंत्रं श्री जैन मंत्रं जप जप जपितं जन्मनिर्वाणमंत्रं॥

अर्थात् यह मंत्र संसार में सारभूत है, तीनों लोकों में इसकी तुलना के योग्य दूसरा कोई मंत्र नहीं है, यह समस्त पापों का शत्रु है, संसार का उच्छेद करने वाला है, भयंकर से भयंकर विष को हर लेता है, कर्मों को जड़ मूल से नष्ट कर देता है, सिद्धि मुक्ति का दाता है, मोक्ष सुख को और केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाला है, अत: इस मंत्र को बार–बार जपो क्योंकि यह जन्म परम्परा को समाप्त कर देता है।

मंत्र देवों की विभूति को आकृष्ट करता है अर्थात् जो इसका जप करता है उसे देवगति की प्राप्ति तो सहज होती है, ॐ नम: सिद्धम् का भाव तो विशुद्ध स्वानुभूतिमय है, जिसमें रम जाने से समस्त कर्मों का क्षय और मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। चारों गतियों में होने वाली विपत्तियों, दु:खों का सर्वथा सर्वप्रकारेण अभाव हो जाता है।

मंत्र जप के प्रयोजन के अनुसार उसका परिणाम अर्थात् फल भी मिलता है। जैसे– ॐ नम: सिद्धम् मंत्र अपने सिद्ध स्वरूप की अनुभूति को सिद्ध कराने के लिए महामंत्र है। जब इस प्रयोजन से इसका स्मरण ध्यान करें तो उस रूप फल भी प्राप्त होगा।

सामान्यतया मंत्र जप के दो फल हैं– एक तात्कालिक फल और दूसरा कालान्तर भावी फल।

मंत्र स्मरण ध्यान से ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय होता है और मंगलमय स्वरूप की प्राप्ति होती है, यह तो तात्कालिक फल है।

कालान्तर भावी फल इस लोक और परलोक की अपेक्षा से दो प्रकार का है– इस लोक में मंत्र आराधन से सर्व मनोरथ की पूर्ति, मानसिक शांति स्वास्थ्य लाभ, आदि इहलौकिक फल हैं। उच्चकुल की प्राप्ति, स्वर्ग और मुक्ति यह सब पारलौकिक फल हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि फल मिलता कैसे है ? क्या अरिहंत सिद्धों को नमस्कार करने से प्रसन्न होकर वे फल देते हैं ?

इसका समाधान यह है कि ऐसा संभव नहीं है क्योंकि अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा वीतरागी होते हैं। किसी के नमस्कार करने से वे उस पर प्रसन्न नहीं होते और किसी के नमस्कार न करने से वे उस पर अप्रसन्न नहीं होते। वे तो पूर्ण वीतरागी परमात्मा हैं।

वस्तुत: नमस्कार का वास्तविक फल तो मोक्ष ही है। जैसा कि तत्वार्थ सूत्र के मंगलाचरण में आप्त (परमात्म देव) के गुणों को प्राप्त करने के प्रयोजन से परमात्मा सच्चे देव की वंदना की गई है यथा–

मोक्ष मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भू भृताम।
ज्ञातारं विश्व तत्वानां, वन्दे तद्गुण लब्धये॥

मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले, विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले आप्त (सच्चे देव, परमात्मा) को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए मैं नमस्कार करता हूं।

इस प्रकार मंत्र के द्वारा भी परमात्मा को नमस्कार करने का प्रयोजन स्वयं उन जैसे होना ही है। ॐ नम: सिद्धम् मंत्र में सिद्ध स्वभाव की स्वानुभूति सहित वंदना की गई है। सिद्ध परमात्मा के समान अपने आत्म स्वभाव की अनुभूति ही ॐ नम: सिद्धम् है। जिसका सीधा प्रयोजन सिद्ध मुक्त होना है। मोक्ष, आत्मा की ही अवस्था विशेष है अत: उसे कोई दूसरा दे नहीं सकता, सिद्धि मुक्ति तो अपने ही प्रयत्न और पुरुषार्थ से मिलती है। रहा आनुषंगिक फल स्वर्ग आदि वह भी कोई किसी को देता नहीं है, वह जीव को अपने–अपने पूर्वोपार्जित शुभ–अशुभ कर्मों से मिलता है। यदि जिनेन्द्र भगवान सिद्ध परमात्मा या कोई देव रुष्ट होकर किसी का पुण्य छीन लें और पाप उसे दे दें अथवा किसी से प्रसन्न होकर उसे पुण्य सौंप दें और पाप ले लें तो किए हुए कर्म के नाश का और बिना किए हुए कर्म की प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। सामायिक द्वात्रिंशतिका में आचार्य अमितगति महाराज ने लिखा है–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटम्,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अर्थात् जीव ने पूर्व में जो स्वयं ही शुभाशुभ कर्म उपार्जित किए हैं उन कर्मों का ही फल भोगता है। यह सुख–दु:ख, शुभाशुभ कर्म यदि दूसरे के द्वारा दिया हुआ माना जाए कि दूसरे के दिए हुए कर्मों का जीव, फल भोगता है तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेंगे अत: सुख–दु:ख का कारण अपना ही कर्म है,

बाह्य वस्तु उसमें निमित्त मात्र है; अत: वास्तव में कोई किसी को कुछ देता नहीं है फिर वीतरागी जिनेन्द्र भगवान या सिद्ध परमात्मा नमस्कार करने का फल देते हैं यह बात ही निष्प्रयोजनीय है।

वस्तुत: मंत्र न तो किसी को कुपित करने के लिए जपा जाता है और न किसी को प्रसन्न करने के लिए जपा जाता है; किंतु अरिहंत सिद्ध परमात्मा के गुणों का स्मरण जप करने से चित्त में प्रसन्नता होती है उससे शुभ परिणाम होते हैं। शुभ परिणाम पुण्य बंध के कारण हैं और सांसारिक सुख सुविधा अनुकूलता पुण्य से प्राप्त होती है तथा शुभ भाव की भूमिका में ही धर्म की प्राप्ति के अवसर होते हैं, शुभ-अशुभ भाव पुण्य-पाप कर्म बंध के कारण हैं। आत्मार्थी जीव पाप से बचकर पुण्य की भूमिका में रहकर धर्म को प्राप्त करता है। मंत्र स्मरण इसमें साधन बन जाता है, जिसका प्रयोजन धर्म की प्राप्ति और फल सिद्धि मुक्ति को प्राप्त करना है।

मंत्र जप या ध्यान करने से पहले कुछ आवश्यक बातों पर दृष्टि होना जरूरी है। बिना श्रद्धा के किया गया कार्य कभी सफल नहीं हो सकता। कहा भी है-**''विश्वासं फल दायकं''** विश्वास ही फल देता है। जिस कार्य पर करने वाले की श्रद्धा नहीं होती, उसमें उसका मन नहीं लगता और बिना मन लगाए कुछ भी करने से कोई लाभ नहीं है।

कल्याण मंदिर स्तोत्र का यह छंद यहां स्मरणीय है-

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दु:ख पात्रं,
यस्मात् क्रिया: प्रतिफलन्ति न भाव शून्या: ॥

हे भगवन्! तुम्हारा उपदेश सुनकर भी, तुम्हारी पूजा करके भी और तुम्हें बार-बार देखकर भी अवश्य ही मैंने तुम्हें भक्ति पूर्वक अपने हृदय में स्थापित नहीं किया। इसी से मैं दु:खों का पात्र बना, क्योंकि बिना भाव के की गई क्रियाएं कभी भी फलदायक नहीं होती अत: श्रद्धापूर्वक मन को लगाना सबसे प्रथम कर्तव्य है।

दूसरी बात मंत्र का उच्चारण विधिपूर्वक और शुद्ध होना चाहिए। अधिकांश लोग मंत्र का उच्चारण करना नहीं जानते। कुछ लोग मात्राएं छोड़कर मंत्र जप करते हैं। कुछ लोग कुछ का कुछ बोल देते हैं। जो लोग शुद्ध उच्चारण करना जानते हैं वे भी इतनी जल्दी-जल्दी मंत्र बोलते है कि वे क्या कह रहे हैं वे स्वयं ही नहीं समझ पाते। ऐसे अशुद्ध पाठ से या जल्दी-जल्दी घास काटने की तरह मंत्र

जप से क्या होने वाला है ? अत: स्थिर चित्त से मन, वचन, काय की एकाग्रता पूर्वक निराकुल होकर किसी शांत स्थान में सुखासन, पद्मासन, अर्धपद्मासन या खड़गासन में स्थित होकर मंत्र का जाप करना चाहिए।

मंत्र जप के भेद

जप तीन प्रकार से किया जाता है - १. मानस जप २. उपांशु जप ३. भाष्य जप।

१. मानस जप - जो जप मन ही मन में किया जाता है उसे मानस जप कहते हैं।

२. उपांशु जप - जो अंतर्जल्प रूप हो, और जिसे कोई सुन न सके उसे उपांशु जप कहते हैं। इसमें मंत्र के शब्द मुख से बाहर नहीं निकलते और कण्ठ स्थान में ही गूंजते रहते हैं।

३. भाष्य जप - मंत्र को मुँह से बोलते हुए जपने को भाष्यजप कहते हैं।

इन तीनों में सबसे उत्तम जप मानस जप है। मानस जप से नीचे उपांशु जप है और उपांशु से नीचे भाष्य जप है। इसी कारण प्रारंभ में भाष्य जप किया जाता है, मंत्रों को मुख से बोलकर जप करने से मन की भाग-दौड़ रुक जाती है और मन मंत्र जप में लग जाता है।

भाष्य जप के द्वारा मन की एकाग्रता होते ही उपांशु जप की ओर बढ़ना चाहिए अर्थात् मंत्रों को मुख से न बोलकर कंठ में ही उच्चारण करना चाहिए। उपांशु जप से मन की एकाग्रता भाष्य जप की अपेक्षा अधिक होती है। इसके पश्चात् मानस जप तो सर्वश्रेष्ठ है ही, इसमें जप का स्थान कण्ठ देश भी न होकर हृदय देश होता है, हृदय में ही मंत्र का चिन्तन चलता रहता है।

यह मानस जप ही अभ्यास बढ़ने पर ध्यान का रूप ले लेता है। इसी कारण वाचनिक जप से यदि सौ गुणा पुण्य होता है तो मानस जप से हजार गुणा पुण्य होता है।

हृदय देश में एक खिले हुए आठ पांखुड़ी के कमल की स्थापना करके मन के साथ प्राणवायु को अंदर स्थिर करके ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का चिंतन-मनन करने को मानस जप कहते हैं। मानस जप के लिए हृदय में कमल का आकार चिन्तन किया जाता है। इसके लिए निर्मल कांति युक्त आठ पत्रों के कमल की स्थापना हृदय देश में करें। उस कमल की कर्णिका पर ॐ नम: सिद्धम् का चिन्तन करना, और उस कर्णिका से लगे हुए आठ पत्रों पर बाईं ओर के पत्र से दाहिने ओर के पत्रों पर क्रमश: क्षायिक सम्यक्त्व,केवलदर्शन, केवलज्ञान,

अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व, अव्याबाधत्व सिद्ध के आठ गुणों को आठों पत्रों पर स्थित करके कर्णिका पर स्थित ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के चिन्तन पूर्वक सिद्ध परमात्मा के समान अपने सिद्ध स्वरूप का स्मरण ध्यान करना मानस जप है।

जैसे सिद्ध परमात्मा अजर–अमर अविनाशी निराकार, सिद्ध शुद्ध हैं, वैसे ही अपने स्वभाव से मैं आत्मा अजर–अमर अविनाशी, निराकार सिद्ध शुद्ध हूं। सिद्ध भगवान के समान अपने सिद्ध स्वरूप शुद्धात्मा चित्स्वभाव का अनुभव करना ही ॐ नम: सिद्धम् का सार तत्त्व है।

इसी मंत्र के प्रभाव से पापी जीव शुद्ध होते हैं, इसी मंत्र के प्रभाव से बुद्धिमान मनुष्य संसार के दु:खों से छुटकारा पाते हैं। इसके ध्यान से सांसारिक दु:खों से छुटकारा मिलता है। इस मंत्र के निरंतर अभ्यास करने से मन को वश में रखने वाला साधु संसार बंधन शीघ्र ही काट डालता है। यह मंत्र द्वादशांग वाणी का सार है, संसार के समस्त क्लेशों का नाश करने वाला और मोक्ष सुख को देने वाला है।

संसार वृक्ष और मुक्ति

संसार रूपी वृक्ष का बीज अज्ञान है, शरीर में आत्मबुद्धि होना उसका अंकुर है, इस वृक्ष में रागरूपी पत्ते हैं, कर्म जल है, शरीर तना है, प्राण शाखाएं हैं, इन्द्रियां उपशाखाएं हैं,विषय पुष्प हैं और नाना प्रकार के कर्मो से उत्पन्न हुआ दु:ख फल है तथा जीव रूपी पक्षी इनका भोक्ता है। अज्ञान मोह से संसार की वृद्धि होती है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के पालन करने पर ही जीव इस संसार रूपी वृक्ष के कर्मफलों के भोग से मुक्त होता है।

ॐ नम: सिद्धं

व्यवहार से सच्चे देव – अरिहंत और सिद्ध परमात्मा।
निश्चय से सच्चा देव – निज शुद्धात्मा।

सिद्ध परमात्मा का स्वरूप

भव परंपरा से चले आ रहे ज्ञानावरणादि आठों कर्मों को जो भव्य जीव तीव्र ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा पूर्ण रूपेण जला डालते हैं और सादि अनंत काल तक के लिए अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाते हैं, पूर्ण शुद्ध कर्म रहित हो जाते हैं, उन्हें सिद्ध परमात्मा कहते हैं।

यह सिद्ध भगवान पुन: संसार में नहीं आते, जन्म–मरण और संसार की आवागमन की परंपरा से हमेशा के लिए मुक्त हो जाते हैं।

अरिहंत से सिद्ध कैसे होते हैं ?

जो जीव गृहस्थ अवस्था को त्यागकर मुनिधर्म साधन द्वारा चार घातिया कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय) का नाशकर अनंत चतुष्टय प्रगट करके अरिहंत परमात्मा हो जाते हैं, वे निरीह भाव से सर्वत्र बिहार करके जीवों को कल्याण मार्ग का उपदेश देते हैं। उनके साथ नाम, आयु, गोत्र और वेदनीय चार अघातिया कर्मों का संयोग रहता है, कुछ काल पश्चात् उनको भी क्षय कर, परम औदारिक शरीर को छोड़कर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्र भाग में विराजमान हो जाते हैं वे सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं।

प्रश्न – यदि बाकी बचे चारों अघातिया कर्मों की स्थिति समान हो तो चारों कर्मों का क्षय एक साथ हो सकता है; किन्तु यदि उनकी स्थिति विषम हुई तो चारों का क्षय एक साथ कैसे हो सकता है ? अर्थात् यदि आयु कर्म की स्थिति थोड़ी हुई और शेष तीन कर्मों की स्थिति अधिक हुई तो आयु कर्म पहले क्षय हो जाएगा। उस स्थिति में शेष तीन कर्म (नाम,गोत्र,वेदनीय) बाकी रह जायेंगे तब वह सिद्ध मुक्त परमात्मा कैसे कहलायेंगे ?

समाधान –जिस अरिहंत परमात्मा के चारों कर्म की स्थिति समान होती है वह तो बिना समुद्घात किये ही चारों कर्मों को एक साथ क्षय करके सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि आचार्य शिवकोटि महाराज ने भगवती आराधना में कहा है–

जेसिं आउसमाइं, णामगोदाइं वेदणीयं च।
ते अकदसमुग्घादा, जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥
॥ भगवती आराधना सूत्र–२१०४ ॥

जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे सयोग केवली परमात्मा समुद्घात किये बिना शैलेषी अवस्था को प्राप्त करते हैं, किंतु आयु कर्म की स्थिति कम होती है और नाम, गोत्र, वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है वे सयोग केवली जिन समुद्घात करके ही शैलेषी अवस्था प्राप्त करते हैं अर्थात् अयोग केवली होते हैं।

प्रश्न – केवली भगवान समुद्घात क्यों करते हैं ?

समाधान – अंतर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर चारों कर्म की स्थिति समान करने के लिए केवली भगवान समुद्घात करते हैं।

ठिदि संत कम्म समकरणत्थं, सव्वेसि तेसि कम्माणं।
अंतोमुहुत्त सेसे जंति, समुग्घादमाउम्मि ॥
॥ भगवती आराधना – २१०६ ॥

आयु कर्म के समान तीनों कर्मों की स्थिति करके मुक्तिगामी सयोग केवली जिन योगों का निरोध करते हैं।

प्रश्न– समुद्घात से कर्म स्थिति कैसे घटती है और सिद्ध पद की प्राप्ति किस प्रकार होती है ?

समाधान– जैसे– गीला वस्त्र फैला देने पर जल्दी सूख जाता है, उसी प्रकार आत्म प्रदेशों के फैलाव से संबद्ध कर्म रज की स्थिति बिना भोगे घट जाती है। आशय यह है कि जब एक अंतर्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रह जाती है, तब केवली समुद्घात करते हैं। समुद्घात के लिए वे प्रथम समय में आत्म प्रदेशों को दण्ड के आकार में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक फैलाते हैं। दूसरे समय में पूर्व और पश्चिम में लोकांत तक फैलाकर मथानी के आकार (प्रतर) कर देते हैं, ऐसा करने से लोक का बहुभाग उनके आत्म प्रदेशों से भर जाता है। चौथे समय में समस्त लोक को पूरकर लोक पूरण कर देते हैं। लोक पूरण होने के पश्चात् ही पांचवे समय में आत्म प्रदेशों को संकोच कर मथानी रूप (प्रतर) कर देते हैं। छटे समय में कपाट के रूप में संकुचित कर देते हैं। सातवें समय में दण्ड के रूप में संकुचित कर देते हैं और आठवें समय में दण्ड का भी संकोच करके शरीरस्थ हो जाते हैं। समुद्घात के द्वारा शीघ्र ही विशिष्ट कर्मों की स्थिति का समीकरण हो जाता है।

इसके बाद योग का निरोध करते हैं क्योंकि तीनों ही योग बंध के कारण

हैं। योग का निरोध होते ही समस्त कर्मों का संवर हो जाने से शील के स्वामी हो जाते हैं। 'अ,इ,उ,ऋ,लृ,' इन पाँच ह्रस्व अक्षरों को न तो अति शीघ्रता से और न अति देर से उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतना ही काल शैलेषी अवस्था का है। काययोग का निरोध होने के समय से लेकर केवली भगवान सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति रूप शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं और शैलेषी अवस्था में समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति ध्यान को ध्याते हैं। यद्यपि मनोनिरोध का नाम ध्यान है, और केवली के मन नहीं रहता अत: वहां ध्यान शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं पाया जाता फिर भी ध्यान का कार्य कर्म निर्जरा बराबर होती है अत: ध्यान माना जाता है।

समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति ध्यान के द्वारा बाकी बचे चार (अघातिया) कर्मों को समूल नष्ट करके वे सिद्ध हो जाते हैं और सिद्ध होते ही ऊर्ध्वगमन करते हैं।

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुबदेरण्ड बीजवदग्नि शिखावच्च।
॥ तत्वार्थ सूत्र १०–७ ॥

जैसे तुम्बी के ऊपर से मिट्टी का भार उतर जाने पर वह स्वभाव से ही ऊपर को जाती है, वैसे ही कर्म का भार उतर जाने पर सिद्ध जीव भी ऊपर को ही जाता है। जैसे–आतप से सूखकर बीज कोश के फट जाने से ऐरण्ड फल के बीज ऊपर को ही जाते हैं, वैसे ही कर्म बंधन के कट जाने से जीव भी ऊपर को ही जाता है; अथवा जैसे अग्नि की लपट स्वभाव से ऊपर को ही जाती है वैसे ही जीव भी स्वभाव से ही ऊपर को जाता है। ऊपर लोक के अग्रभाग में, मनुष्य लोक के बराबर परिमाण वाला सिद्ध क्षेत्र है, उसका आकार उत्तान छत्र की तरह है। यहां से मुक्त होने के बाद जीव जिस अवस्था पद्मासन या खड़गासन में मुक्त होता है, वही आकार उसका मुक्त होने पर रहता है। केवल अवगाहना मूल शरीर से कुछ कम हो जाती है; क्योंकि शरीर में कुछ स्थान खाली होता है, जब योग निरोध होता है तो वे खाली भाग भर जाने से अवगाहना कम हो जाती है।

मुक्त होने के बाद सिद्ध जीव तुरंत ऊर्ध्व गमन करता है और लोक के अन्त तक जाकर सिद्ध क्षेत्र पर ठहर जाता है क्योंकि गति में सहायक धर्म द्रव्य लोक के अन्त तक ही पाया जाता है,आगे नहीं पाया जाता और इसके बिना जीव का गमन नहीं हो सकता, अत: मुक्त जीव सिद्ध क्षेत्र पर विराजमान हो जाता है। इसी तरह जितने भी जीव मुक्त होते हैं सब ऊर्ध्व गमन करके लोकान्त में स्थिर हो जाते हैं; चूंकि जीव अमूर्तिक है अत: स्थान घिरने का कोई प्रश्न ही नहीं है, इसी कारण जहाँ एक सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं, वहीं अनंत सिद्ध परमेष्ठी भी

विराजमान हो सकते हैं और हैं।

सिद्ध परमात्मा वहां से कभी भी लौटकर नहीं आते क्योंकि न वहां मृत्यु है, न बुढ़ापा है, न संयोग-वियोग है और न रोगादिक हैं। इन सबका संबंध शरीर से होता है और मुक्त अशरीरी होते हैं। इसी कारण कहा भी है-

जाइ जरा मरण भया, संजोग विओग दु:ख सण्णाओ।
रोगादिया भ जिस्से, ण संति सा होदि सिद्ध गई॥
॥ गोम्मट्टसार जीवकांड- १५२॥

जिसमें जन्म, जरा, मरण का भय, संयोग-वियोग का दु:ख और रोग आदि नहीं होते वह सिद्ध गति है। संक्षेप में सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप इस प्रकार है -

अट्ठ विह कम्म वियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठ गुणा किदकिच्चा, लोयग्ग णिवासिणो सिद्धा॥
॥ गोम्मट्टसार जीवकांड- ६८॥

जो आठ कर्मों से रहित हैं, अनंत सुख में मग्न हैं,निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से सहित हैं, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्र भाग में रहते हैं वे सिद्ध परमेष्ठी हैं।

सिद्ध प्रभु की अनुपम गुण संपन्नता

श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज ने मुक्तिगत सिद्ध परमात्मा का स्वरूप बताया है -

सिद्धं सिद्धि संपत्तं, अट्ठ गुनं न्यान केवलं सुद्धं।
अट्ठंमि पुहमि समिधं, सिद्ध सरूवं च सिद्धि संपत्तं॥
॥ ज्ञान समुच्चय सार- ६५३॥

सिद्ध परमात्मा सिद्धि की संपत्ति के स्वामी हैं, आठ गुणों से सहित निर्मल केवलज्ञान मय हैं, आठवीं पृथ्वी पर स्थित सिद्ध परमात्मा अपने स्वरूप में लीन सिद्धि की संपत्ति से समृद्धवान हैं। सिद्ध प्रभु अनुपम गुणों से युक्त हैं, उनके गुणों की उपमा किसी से नहीं हो सकती है। न गुण में उपमा है, न अनुभव में उपमा है। जब तक यह सिद्ध अवस्था नहीं होती तब तक आत्मा के संयोग में संसार के संकट लगे हुए हैं, आत्मा का पूर्ण हित, आत्यंतिक हित एक मोक्ष अवस्था ही है।

सिद्ध भगवान आठवीं पृथ्वी पर अवस्थित हैं। सात नरक सात पृथ्वियों में हैं इसलिए सात पृथ्वियों के भीतर बड़े लम्बे चौड़े, योजनों के पोल हैं, उन पोलों में नारकी जीव रहते हैं और आठवीं पृथ्वी है सिद्धशिला, उस पर सिद्ध बैठते नहीं हैं,

उससे बहुत ऊपर लोक के शिखर पर विराजमान रहते हैं। सिद्धशिला, सिद्ध परमात्माओं से बहुत नीचे है। सिद्धों के और सिद्ध शिला के बीच में और कोई रचना नहीं है। सर्वार्थसिद्धि का विमान सिद्ध शिला के नीचे है। यह सिद्ध शिला आठवीं पृथ्वी है, जिससे ऊपर लोक के अंत में सिद्ध प्रभु अनन्त गुण युक्त सानंद विराजमान रहते हैं।

संमत्त न्यान दंसन, बल वीरिय सुहम हेवं च।
अवगाहन गुन समिधं, अगुरुलघु तिलोय निम्मलं विमलं॥
॥ ज्ञान समुच्चय सार - ६५४॥

सिद्ध परमात्मा तीनों लोक में विमल निर्मल ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित हैं और क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व इन आठ गुणों से मंडित हैं,अपने आत्म स्वरूप में लीन होकर जो कर्म रहित अक्षय अविनाशी पद प्राप्त करते हैं वे ही महान सिद्ध परमेष्ठी हैं।

सिद्ध प्रभु का आनन्द विलास

सहज शुद्ध परमानन्द एक अखण्ड स्वभाव रूप जो आत्म सुख उससे विपरीत जो चतुर्गति के दु:ख, उनसे रहित हैं, जन्म-मरण रूप रोगों से रहित हैं, अविनश्वरपुर में सदाकाल रहते हैं। जिनका ज्ञान संसारी जीवों की तरह विचार रूप नहीं है कि किसी को पहले जानें, किसी को पीछे जानें,उनका केवलज्ञान और केवलदर्शन एक ही समय में सब द्रव्य सब क्षेत्र सब काल और सब भावों को जानता है। लोकालोक प्रकाशी आत्मा निज भाव अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्यमयी है। ऐसे अनंत गुणों के सागर भगवान सिद्ध परमेष्ठी स्व द्रव्य, स्व क्षेत्र, स्व काल, स्व भाव रूप चतुष्टय में निवास करते हुए सदा आनंद रूप लोक के शिखर पर विराज रहे हैं, जिसका कभी अंत नहीं, उसी सिद्ध पद में सदाकाल विराजते हैं। सकल कर्मोपाधि रहित महानिरुपाधि निराबाधपना आदि अंनत गुणों सहित मोक्ष में आनंद विलास करते हैं।

सिद्ध प्रभु की अलौकिक सम्पन्नता

सिद्धं सहाव सुद्धं, केवल दंसन च न्यान संपन्नं।
केवल सुकिय सुभावं, सिद्धं सुद्धं मुनेअव्वा॥
॥ ज्ञान समुच्चय सार-६५५॥

सिद्ध परमात्मा स्वभाव से शुद्ध हैं, केवलदर्शन और केवलज्ञान जैसी अनंत शक्ति से संपन्न हैं, मात्र अपने स्वभाव मय ही हैं वे सिद्ध परमात्मा शुद्ध हैं ऐसा जानो। सिद्ध भगवान अपने आत्मा की बहुत बड़ी संपत्ति से सहित हैं, उनको कोई आकुलता नहीं है, किसी प्रकार का कोई राग–द्वेष नहीं है, संकल्प–विकल्प भी नहीं है वे विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं। दु:ख तो उनको होता है जो पर की अपेक्षा रखते हैं, पर में मोह करते हैं। मोह करना बहुत बड़ा अपराध है क्योंकि अपना है तो कुछ नहीं, अपना तो केवल आत्मा है, स्वयं है, स्वयं से बाहर सब पर पदार्थ पर ही हैं, अत्यंत भिन्न हैं, उनसे अपना रंच मात्र भी संबंध नहीं है। फिर भी उनकी ममता हम अपने चित्त में बसाये हैं,यह मेरा है, ऐसा मानना ही मोह है, यही अपराध है।

जहां मोह है, वहां अज्ञान, राग–द्वेष, क्लेश, दु:ख, भय आदि होते हैं। सिद्ध भगवान मोह रहित हैं इसलिए समस्त विकारों से रहित निर्विकार परम आनंदमय हैं। वे कर्म मुक्त आत्मा होकर सिद्ध हो गए हैं। वे प्रभु चारित्र से सिद्ध हुए, दर्शन से सिद्ध हुए, ज्ञान से सिद्ध हुए, संयम से सिद्ध हुए, तप से सिद्ध हुए। अब वे पूर्ण सिद्ध हैं। सिद्ध से आगे कुछ करने की आवश्यकता नहीं रही यह परिपूर्ण आत्म पद है।

सिद्ध परमात्मा अपूर्व अतीन्द्रिय आनंद का निरंतर रसपान करते हैं, कर्म रहित, संयोग रहित, आत्म गुणों में परिपूर्ण शुद्ध सिद्धात्मा हैं।

ॐ नम: सिद्धम् की पूर्व भूमिका

सिद्धि का अर्थ –

पूर्ण स्वभाव की वर्तमान पर्याय में प्रगटता होना, अपने परिपूर्ण स्वभाव में लीन हो जाना ही सिद्धि है, आत्मा के या आत्मा के गुणों के विनाश का नाम सिद्धि नहीं है। अपने आत्म स्वरूप की समझ जागने पर सिद्धि क्या है, मोक्ष क्या है इसका स्वयमेव बोध होता है।

मोक्ष नाम है–कैवल्य का। जैसा यह आत्मा केवल अपने आप अपने स्वभाव से है उतना ही मात्र रहे, इसके साथ कर्मोपाधि शरीरादि संयोग कुछ भी न रहे, यह जैसा है मात्र वैसा ही रहे, इसी को मोक्ष कहते हैं, इसी का नाम सिद्धि है।

सिद्धि शब्द 'षिध्' धातु से बना है, जिससे सिद्धि का अर्थ है उत्कृष्ट उपलब्धि, विकारों का विध्वंस, इस प्रकार निर्विकार परिसमृद्ध जिनकी परिणति हुई है, उन्हें सिद्ध भगवान कहते हैं। सर्व आत्माओं में अति विशुद्ध सारभूत सर्व प्रकार के संकटों से मुक्त और सदा के लिए निर्विकल्प स्वच्छ बने रहने वाले यह

सिद्ध भगवान उत्कृष्ट हैं, आदर्श हैं। जैसी सिद्धि उन्होंने प्राप्त की है, जो दशा उन्होंने प्राप्त की है वही अवस्था हमारी भी हो सकती है, प्रत्येक आत्मा स्वभाव से सिद्ध परमात्मा की तरह शुद्ध है, उन सिद्ध भगवान की तरह मुझे भी सिद्ध पद की प्राप्ति हो, इसी सिद्धि की प्रसिद्धि के लिए सिद्ध प्रभु का आराधन किया जाता है कि जैसे सिद्ध भगवान की संकट हीन, विकारहीन पवित्र आनंदमय दशा है, ऐसी आनंदमय दशा मेरी भी हो इसके लिए मैं उस पवित्र स्वरूप का ध्यान करूं, जिसके ध्यान करने से अपने सिद्ध स्वरूप शुद्धात्मा में तल्लीनता, स्वरूप मग्नता हो जाती है, यही स्वात्मोपलब्धि है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए सिद्ध परमात्मा का आराधन और सिद्ध स्वरूप का साधन किया जाता है।

सिद्ध परमात्मा और निज शुद्धात्मा–

सिद्ध परमात्मा और निज शुद्धात्मा में स्वभाव अपेक्षा निश्चय नय से रंचमात्र भी कोई भेद नहीं है। यही शुद्ध स्वभाव, दृष्टि का विषय है, यही दृष्टि सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र का मूल है। जब तक शुद्धात्म स्वभाव की दृष्टि नहीं होगी तभी तक संसार और बंधन है। अनादिकाल से अपने सत्स्वरूप शुद्धात्मा चैतन्य भगवान को नहीं जानने के कारण यह चार गति चौरासी लाख योनियों का चक्कर चलता रहा है। अब मनुष्य भव में यह अज्ञान मिथ्यात्व की भूल समूल रूप से उन्मूलन करने का सुअवसर है, इसके लिए एक ही उपाय है कि पर्याय आश्रित होने वाली मान्यताओं को मिटाना और मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूं इसकी दृष्टि बहुमान जगाना कि जैसे सिद्ध परमात्मा सर्वकर्मों से रहित सिद्ध शुद्ध मुक्त अविनाशी अतीन्द्रिय सुख के धनी हैं, उनके समान ही मैं सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा परमात्मा हूं, परम आनंद स्वरूप हूं। जैसे भगवान मात्र ज्ञान स्वरूप हैं इसी प्रकार मैं भी मात्र ज्ञान मय तत्त्व परमात्मा हूं।

अहो ! ऐसे अपने आनंदमयी ध्रुव धाम प्रभु निज परमात्मा को जाने पहिचाने तो बाहर में परमात्मा की खोज का परिश्रम समाप्त हो जाए; परंतु अज्ञानी जीव अपने स्वभाव से विमुख हुए परमात्मा की खोज बाहर करते हैं।

निश्चय से या वास्तव में यदि कोई परमात्मा का दर्शन या साक्षात्कार करना चाहे तो उसको अपने शरीर के भीतर ही अपने ही आत्मा को शुद्ध ज्ञानदृष्टि से शुद्ध स्वभावी सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित देखना होगा। कोई भी इस जगत में परमात्मा को अपने चर्म चक्षु से कहीं भी नहीं देख सकता है। अब तक जिसने परमात्मा को देखा है अपने ही भीतर देखा है।

वर्तमान में परमात्मा का दर्शन करने वाले भी अपनी देह के भीतर ही देखते हैं, भविष्य में भी जो कोई परमात्मा को देखेंगे वह अपने शरीररूपी मंदिर

में ही देखेंगे।

ज्ञानी यह जानता है कि मैं एक चैतन्यमात्र ज्योतिरूप पदार्थ हूँ। जिस समय मेरे भीतर इस आत्मज्योति का प्रकाश होता है अर्थात् मैं जब आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता हूँ तब नाना प्रकार के विकल्प जालों का समूह जो इन्द्रजाल के समान मन में था वह सब दूर हो जाता है। मैं निर्विकल्प स्थिर स्वरूप में रमणकारी हो जाता हूँ।

ऐसे अन्तरंग के आल्हादपूर्वक आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करना मोक्षमार्ग है। जो कोई उस आत्मानुभव का अभ्यास करना प्रारंभ करता है उसको महान फल की प्राप्ति होती है। जब तक केवलज्ञान न हो तब तक यह आत्मध्यानी ध्यान के समय चार फल पाता है। आत्मीक सुख का वेदन होता है। यह अतीन्द्रिय सुख उसी जाति का है जो सुख अरहंत सिद्ध परमात्मा को है। दूसरा फल यह है कि अन्तराय कर्म के क्षयोपशम बढ़ने से आत्मवीर्य बढ़ता है, जिससे हर एक कर्म को करने के लिये अन्तरंग में उत्साह व पुरुषार्थ बढ़ जाता है। तीसरा फल यह है कि पाप कर्मों का अनुभाग कम करता है। पुण्य कर्मों का अनुभाग बढ़ाता है। चौथा फल यह है कि आयु कर्म के सिवाय सर्व कर्मों की स्थिति कम करता है।

आत्मार्थी साधक अपने सत्स्वरूप को जानता पहिचानता है, अपने देव स्वरूप निज शुद्धात्मा का उसे बोध है इसलिए वह मुक्ति को, अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। जिस जीव को वस्तु स्वरूप की समझ नहीं होती, वह अज्ञान के कारण नाना प्रकार की विपरीत मान्यताओं में फंसकर संसार में भटकता रहता है।

देहरूपी देवालय में जो शक्ति सहित देव वास करता है, हे योगी ! वह शक्तिमान शिव कौन है ? इस भेद को तू शीघ्र ढूँढ। जो न जीर्ण होता है, न मरता है, न उपजता है; जो सबसे पर, कोई अनंत है, त्रिभुवन का स्वामी है और ज्ञानमय है, वह शिवदेव है – ऐसा तुम निर्भ्रान्त जानो।

मनुष्य भव में प्राप्त इस अमूल्य अवसर में सच्चे देव गुरु धर्म का यथार्थ स्वरूप समझकर वस्तु स्वरूप का श्रद्धान करना और स्व-पर की पहिचान कर अपने आत्म कल्याण का मार्ग बनाने में ही मनुष्य भव की सार्थकता है।

इस लक्ष्य को भूलकर जो जीव मात्र बाहर ही बाहर भटकते हैं, निज परमात्मा की जिनको खबर नहीं है, श्री रामसिंह मुनिराज उनसे पूछते हैं –

आराहिज्जइ देउं परमेसरु कहिं गयउ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ॥
॥ पाहुड़ दोहा-५०॥

रे जीव ! तू देव का आराधन करता है, परन्तु तेरा परमेश्वर कहां चला

गया ? जो शिव कल्याण रूप परमेश्वर सर्वांग में विराज रहा है उसको तू कैसे भूल गया ?

इसीलिए संतों ने जागरण देशना दी है–

जैसे तिल में तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा प्रभु तुझमें बसे, जाग जाग रे जाग॥

देह रूपी देवालय में जो शक्तिमान शिव स्वरूप शुद्धात्मा परमात्मा वास कर रहा है। हे योगी ! वह शक्तिमान परमात्मा कौन है ? इस भेद को तू शीघ्र ढूंढ। तेरा आत्मा ज्ञानमय है, जब तक उसके भाव को नहीं देखा, तभी तक चित्त बेचारा संसार ताप से दग्ध होकर संकल्प-विकल्प सहित अज्ञान रूप प्रवर्तता है, इसलिए ॐ नमः सिद्धम् के आंतरिक रहस्य को जानने के लिए प्रथम यह निर्णय बुद्धि पूर्वक करना कि मैं आत्मा सिद्ध परमात्मा के समान शुद्ध बुद्ध ज्ञान घन सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ।

ॐ नमः सिद्धम् की सिद्धि

(आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में)

श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज महान आध्यात्मिक संत थे, उनकी आत्म ज्ञान मय आध्यात्मिक साधना आत्मा से परमात्मा होने का सत्पुरुषार्थ और तदनुरूप आत्म साधना की अनुभूतियाँ उनके द्वारा विरचित चौदह ग्रंथों में अंतर्निहित हैं। विचार मत, आचार मत, सार मत, ममल मत और केवल मत, इन पांच मतों में पूज्य गुरुदेव श्री जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज ने चौदह ग्रंथों की रचना की। स्वयं आत्म साधना के मंगलमय पथ पर अग्रसर होते हुए सभी भव्यात्माओं को जिनेन्द्र कथित अध्यात्म सत्य धर्म का स्वरूप बताकर महान-महान उपकार किया है।

सार मत के अंतर्गत तीन ग्रंथ हैं- श्री ज्ञान समुच्चय सार, उपदेश शुद्ध सार, त्रिभंगी सार। इनमें श्री ज्ञान समुच्चय सार जी ग्रंथ सम्पूर्ण द्वादशांग वाणी के सार स्वरूप सिद्धांत का प्रायोगिक स्वरूप बताने वाला ग्रंथ है। इस ग्रंथ में द्वादशांग का स्वरूप, चार आराधना की आराधना करने का विधान तथा जिनवाणी के अनेकों रहस्य स्पष्ट किए हैं।

गाथा ६५८ से ७०४ तक चौदह गुणस्थानों का विशद् विवेचन करके श्री गुरुदेव ने गुणस्थानातीत सिद्ध परमात्मा का स्वरूप बताते हुए इस ग्रंथ में ॐ नमः सिद्धम् मंत्र की प्रसिद्धि की है।

सिद्ध परमात्मा का स्वरूप बतलाते हुए श्री गुरु तारण तरण देव कहते हैं –

सिद्धं सिद्ध सरूवं, सिद्धं सिद्धि सौष्य संपत्तं ।
नंदो परमानंदो, सिद्धो सुद्धो मुनेअव्वा ॥
॥ ज्ञान समुच्चय सार–७०३ ॥

सिद्ध परमात्मा सिद्ध स्वरूप को प्राप्त हो गये हैं, वे सिद्ध प्रभु सिद्धि के अनंत सुख की संपत्ति से युक्त आनंद परमानन्द मय निमग्न हैं, कर्म रहित शुद्ध हैं उनको ही परमात्मा जानो।

जब आठों कर्म क्षय हो जाते हैं,तब कर्म जनित सारी रचना भी दूर हो जाती है, इसलिए सिद्ध महाराज रागादि भाव कर्म व शरीरादि नो कर्म से रहित हैं, सर्व बाधाओं से रहित हैं, स्वाभाविक परमानन्द में नित्य निमग्न हैं, जो साध्य था उसको सिद्ध कर चुके हैं, इसी से सिद्ध कहलाते हैं, यही परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है।

श्री नेमिचंद्राचार्य महाराज के द्रव्य संग्रह के वचनानुसार –

''सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया''

शुद्ध नय से (निश्चय नय से) जगत के सभी जीव शुद्ध हैं। स्वभाव दृष्टि से सिद्ध स्वरूपी आत्मा स्वयं ही है। सिद्ध परमात्मा के समान निज शुद्धात्मा है।

श्री गुरु तारण स्वामी ने सिद्ध परमात्मा का स्वरूप आदर्श के रूप में सामने रखकर अपने सिद्ध स्वरूप का आराधन किया है–

प्रस्तुत हैं ज्ञान समुच्चय सार जी ग्रंथ की गाथायें–

उवंकारं च ऊर्धं, ऊर्ध सहावेन परमिस्टि संजुत्तो ।
अप्पा परमप्पानं, विंद स्थिरं जान परमप्पा ॥ ७०५ ॥

ॐकारमयी सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा श्रेष्ठ है,यह आत्मा परमात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभाव से परम इष्ट पद में संयुक्त होकर विंद (निर्विकल्प) स्वभाव में स्थिर हो जाता है उसको ही परमात्मा जानो।

न्यानं सुद्ध सहावं, न्यान मयं परमप्प सुंसुद्धं ।
न्यानं न्यानं सरूवं, अप्पा परमप्प सुद्धमप्पानं ॥ ७०६ ॥

ज्ञान स्वभाव शुद्ध है, परमात्मा परम शुद्ध ज्ञानमय हैं, ज्ञान ही ज्ञान है स्वरूप जिसका, ऐसा यह आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा है।

ममात्मा ममलं सुद्धं, सुद्ध सहावेन तिअर्थ संजुत्तं ।
संसार सरनि विगतं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ॥ ७०७ ॥

मेरा आत्मा ममल और शुद्ध है, शुद्ध स्वभाव से परिपूर्ण रत्नत्रयमयी है।

सिद्ध परमात्मा के समान शुद्ध होने से संसार के परिभ्रमण से रहित यह निज आत्मा ही निर्मल शुद्ध परमात्मा है।

उवं नमः एकत्वं, पद अर्थं नमस्कार उत्पन्नं ।
उवंकारं च विंदं, विंदस्थं नमामि तं सुद्धं ॥ ७०८ ॥

ॐकार मयी सिद्ध परमात्मा के समान अपने सिद्ध स्वभाव से एकत्व (अनुभूति) होना ही सिद्ध को नमस्कार है।

इस अनुभूति पूर्ण नमस्कार से जिस प्रयोजनीय पद को नमस्कार किया जा रहा है, वह उत्पन्न हो जाता है अर्थात् सिद्ध पद प्रगट हो जाता है। ॐकार मयी परमात्मा निर्विकल्प स्वभाव में लीन हैं। अपने विंद (निर्विकल्प) स्वरूप में स्थित होकर मैं उस शुद्ध स्वभाव को नमस्कार करता हूँ।

यहां श्री जिन तारण स्वामी ने अभेदपने अपने सिद्ध स्वभाव की अनुभूति की है, यही सिद्ध परमात्मा की वास्तविक वंदना, नमस्कार है। सिद्ध पद जो अपने में निहित है, इसी अनुभूतिमय वंदन से प्रगट होता है। भेद रूप नमस्कार मात्र कषाय भी मंदता और शुभ भाव रूप होने से पुण्य बंध का कारण है, धर्म नहीं, परंतु अभेदज्ञान मय नमस्कार वह आत्म धर्म है जो समस्त कर्मों की निर्जरा कर मुक्ति को प्राप्त कराने वाला है इसलिए सिद्ध परमात्मा के समान निज शुद्धात्मा सिद्ध स्वरूप का अनुभवन ही ॐ नमः का भाव है और यही प्रयोजनीय है, इसी के आश्रय से सिद्ध पद प्रगट होता है, जैसा कि गुरुदेव ने ॐ नमः के एकत्व के फल के रूप में प्राप्त होने वाली सिद्धि के बारे में स्वयं लिखा है –

सिद्धं सिद्धि सदर्थं, सिद्धं सुद्धं च निम्मलं विमलं ।
दर्सन मोहंध विमुक्कं, सिद्धं सुद्धं समायरहि ॥ ७०९ ॥

सत् (अस्तित्व) ही जहां प्रयोजन रहा, ऐसी सिद्धि की प्राप्ति ही सिद्ध पद है। यह सिद्ध पद शुद्ध और निर्मल विमल है, परम आनंद स्वरूप है, दर्शन मोहनीय रूप मिथ्यात्व अज्ञान के तिमिर से सर्वथा रहित है ऐसे शुद्ध सिद्ध पद में आचरण करो।

अनुभव की दृष्टि से ॐ नमः सिद्धम् मंत्र अत्यंत सूक्ष्म भाव को धारण करता है और महा महिमामय मंत्र है।

इसमें सिद्धम् पद सिद्ध स्वभाव का सूचक है, ॐ पद सिद्ध परमात्मा ॐकार मयी शुद्धात्मा का बोध कराने वाला है तथा नमः पद नमस्कार, स्वीकार,अनुभवन, स्वभाव की एकत्व रूप अनुभूति को प्रसिद्ध करने वाला है। इस प्रकार सिद्ध परमात्मा के समान निज शुद्धात्मा का अनुभवन करना ही **ॐ नमः सिद्धम्** का तात्पर्य है।

यही अभेद अनुभूति सत्य धर्म है, कहा भी है–

धम्मं च चेयनत्वं, चेतन लष्यनेहि संजुत्तं।
अचेत असत्य विमुक्कं, धम्मं संसार मुक्ति सिव पंथं ॥ ७१० ॥

आत्मा का चेतनत्व गुण ही धर्म है। शरीर आदि अचेतन संयोगी पर पदार्थ और रागादि क्षणभंगुर असत् विभाव परिणामों से दूर होकर अपने चेतन लक्षण स्वभाव से संयुक्त होना चैतन्य स्वरूप का अनुभव करना ही धर्म है। यही धर्म संसार से मुक्ति दिलाने वाला मोक्ष का मार्ग है।

''चेतना लक्षणो धर्मो'' आत्मा का चैतन्य लक्षण रूप स्वयं का अनुभव ही धर्म है, जो संसार से पार लगाने वाला है। वस्तुत: वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। आत्मा का जो स्वभाव है वह आत्मा का धर्म है,आत्मा स्वभाव से चेतना लक्षणमय है, यही आत्मा का धर्म है। जहाँ आत्मा कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना से रहित होकर ज्ञान चेतना का अनुभव करता है, वहीं वह अपने धर्म में है। ऐसा ज्ञानानुभव रूप या आत्मानुभव रूप धर्म ही वीतराग भाव को लिए हुए है; अतएव यही कर्मों की निर्जरा का कारण, नवीन कर्मों का संवर करने वाला है। इसी के बारम्बार अभ्यास से यह आत्मा सिद्ध परमात्मा की तरह कर्मों से छूटकर सिद्ध पद पा लेता है। इसीलिए ''ॐ नम: सिद्धम्'' का अनुभव धर्म है, क्योंकि यहां सिद्ध स्वभाव मात्र है। सिद्ध परमात्मा और अपने सिद्ध स्वभाव का भी भेद नहीं है। इस प्रकार यह पंच अक्षर रूप ॐ नम: सिद्धम् की प्रसिद्धि प्रगट होती है –

पंच अष्यर उत्पन्नं, पंचम न्यानेन समय संजुत्तं।
रागादि मोह मुक्तं, संसारे तरंति सुद्ध सभावं ॥ ७११ ॥

अर्थात् पंचम ज्ञान (केवलज्ञान) मय ध्रुव स्वसमय शुद्धात्मा सिद्ध स्वरूप से संयुक्त होने से (निर्विकल्प अनुभूतिपूर्वक) यह पंच अक्षर प्रगट हुए हैं, उत्पन्न हुए हैं। इसके आश्रय से जीव मोह रागादि विकारी भावों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वभाव में ठहरकर संसार से तर जाते हैं।

अनुभूति की पर्याय में त्रिकाली आत्मा जानने में आता है। अनित्य अनुभूति की पर्याय नित्य को जानती है। जानने वाली पर्याय है परन्तु जानती द्रव्य स्वभाव को है। अनुभूति की पर्याय को द्रव्य का आश्रय है, पर्याय को पर्याय का आश्रय नहीं। कार्य पर्याय में होता है पर उस कार्य में कारण त्रिकाली ध्रुव है। कार्य में कारण का ज्ञान होता है। यही मंत्र है जो संसार सागर से पार उतारने वाला है।

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र अपने सिद्ध स्वरूप की विंद रूप अनुभूति है। श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने श्री ममल पाहुड़ जी ग्रंथ की पहली फूलना

देव दिप्ति गाथा में सिद्ध स्वभाव को नमस्कार किया है–

तत्वं च नंद आनंद मउ, चेयननंद सहाउ।
परम तत्व पद विंद पउ, नमियो सिद्ध सुभाउ ॥

तत्त्व, सिद्ध स्वरूपी शद्धात्मा नन्द आनंदमयी चिदानंद स्वभावी है, यही परम तत्व विंद (निर्विकल्प) पद प्राप्त हुआ है, अनुभति में प्रगट हुआ है, ऐसे विंद पद स्वरूप सिद्ध स्वभाव को नमस्कार है।

चैतन्य स्वरूप चिदानन्द भगवान निज शुद्धात्मा निज अनुभवन से, स्व का अनुसरण करके होने वाली परिणति से शुद्ध चैतन्य की अनुभूति से ही जाना जाता है। यह राग से प्रकाशित होने वाला तत्त्व नहीं है,उसे राग की या निमित्त की अपेक्षा है ही नहीं।

यह भेद दृष्टि से भी पकड़ में नहीं आता, यहां तो पूर्ण अभेद स्वभाव के लक्ष्य और दृष्टि की बात है तभी ॐ नम: सिद्धम् में निहित भाव ॐकार मयी सिद्ध स्वभाव की अनुभूति रूप सिद्ध स्वभाव को नमस्कार होता है।

यहां अनुभवन रूप क्रिया यह व्यवहार है, उसमें निश्चय ध्रुव तत्त्व सिद्धत्व जानने में आता है। अनुभूति की अनित्य पर्याय नित्य को जानती है। नित्य,नित्य को क्या जाने, वह तो नित्य स्वरूप है ही। पर्याय को द्रव्य ध्येय है, वह पर्याय में जाना जाता है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का नाथ सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा त्रिकाली भगवान चैतन्य देव परमात्मा है, उसका विचार कर ध्यान करने से मन अनेक विकल्पों के कोलाहल से विश्राम पा जाता है, शांत हो जाता है और तब अतीन्द्रिय आनंद के रस का स्वाद आता है, सिद्धत्व की अनुभूति का निर्झर वह निकलता है यही ॐ नम: सिद्धम् है।

श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने विचार मत में श्री मालारोहण, पंडित पूजा, कमलबत्तीसी जी ग्रंथों का सृजन किया। यह तीनों ग्रंथ क्रमश: सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्रतिपादन करने वाले हैं। श्री पंडितपूजा ग्रंथ की प्रथम तीन गाथाओं में सद्गुरु ने ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की जो द्रव्य, पर्याय से, निश्चय–व्यवहार से सिद्धि की है यह आत्म चिंतन और अनुभवन में साधन बनेगी, ऐसी अपूर्व बात है।

प्रथम दो गाथाओं में ॐ नम: सिद्धम् का आधार और अभिप्राय स्पष्ट किया है–

उवंकारस्य ऊर्धस्य, ऊर्ध सद्भाव सास्वतं।
विन्द स्थानेन तिस्टन्ते, न्यानं मयं सास्वतं धुवं ॥

निरु निश्चैनय जानन्ते, सुद्ध तत्व विधीयते।
ममात्मा गुनं सुद्धं, नमस्कारं सास्वतं धुवं॥

आत्मा ॐकार मयी पंच परमेष्ठी पदधारी शुद्ध-बुद्ध श्रेष्ठ ज्ञान स्वरूप परमात्मा है। जो जीव अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होकर ऊर्ध्व गमन करते हैं, वे त्रिकाली चैतन्य स्वरूप शाश्वत स्वभाव में लीन होकर अर्थात् स्वभाव का वरण कर निर्विकल्प मोक्ष सुख में सदा विराजते हैं, वे सिद्ध परमात्मा ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव में लीन रहते हैं। अनुपम, अविनाशी पद के धारी सिद्ध परमात्मा के समान ही अत्यंत महिमावान मेरा भी शुद्ध सत्स्वरूप है।

अध्यात्म शिरोमणि पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज इस ग्रंथ की अध्यात्म सूर्य टीका में लिखते हैं-

''ज्ञानीजन परमशुद्ध निश्चय से जानते हैं कि मैं शुद्धात्मा सर्व कर्मों से भिन्न हूं,सिद्धों के समान मेरा स्वरूप है। ज्ञानी निज शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव करते हैं। जैसे सिद्ध परमात्मा शुद्ध अशरीरी अविकारी निरंजन हैं वैसा ही मेरा आत्म स्वरूप है, उनके गुणों के समान ही मेरे गुण सदैव शुद्ध हैं, जो समस्त पर संयोगों से भिन्न अपने में ही चित्प्रकाशमान हो रहा है, ऐसे शाश्वत ध्रुव स्वभाव को मैं नमस्कार करता हूं, यह अनुभवन ही धर्म है। धर्म, यह वस्तु परम तत्त्व बहुत गुप्त रहा है। यह बाह्य आचरण, बाह्य शोधन, बाह्य ज्ञान से मिलने वाला नहीं है। अपूर्व अंत: शोधन से यह प्राप्त होता है। अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति बोध होना यह अंत: शोधन कोई विरले महा भाग्य जीवों को उपलब्ध होता है। इस जीवन के थोड़े सुख के लिए अनंत भव के अनंत दु:खों को बढ़ाना ज्ञानी बुधजन उचित नहीं मानते, इसी जीवन में मुक्त होने का सत्पुरुषार्थ करते हैं।

ज्ञानी जन जानते हैं कि जैसे सिद्ध भगवान किसी के आलंबन बिना स्वयमेव पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञानानंद स्वभाव से परिणमन करने वाले दिव्य सामर्थ्य वंत देव हैं,तादृश सभी आत्माओं का स्वभाव भी है। ऐसा ही निरालम्बी ज्ञान और सुख स्वभाव रूप मैं हूँ। ऐसा लक्ष्य में लेने पर ही जीव का उपयोग अतीन्द्रिय होकर पर्याय में ज्ञान और आनंद खिल जाता है। इस तरह आनंद का अगाध सागर सिद्ध के समान निज शुद्धात्मा उसकी प्रतीति में, ज्ञान में, और अनुभूति में आ जाता है।

(पंडित पूजा गाथा १-२ की टीका से)

ॐ नम: सिद्धम् इसीलिये महिमामय मंत्र है क्योंकि अपने ॐकार मयी सिद्ध स्वभाव के अनुभव को संजोये हुए है। साधक का इष्ट आराध्य भी

निज शुद्धात्म स्वरूप ही है। इसी की साधना आराधना से स्वयं सिद्ध हुआ जाता है। जो पहले सच्चे देव, अरिहंत सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को जानकर चिंतन-मनन करते हैं और लक्ष्य में लेते हैं कि ऐसा ही मेरा सत्स्वरूप है, ऐसी अनुभूति युत श्रद्धान ज्ञान द्वारा ध्रुव शाश्वत स्वरूप को नमस्कार करते हैं यह नमस्कार ही वास्तविक नमस्कार है।

यह अनुभूति आत्मा ही है। इसे शुद्ध नय कहो, आत्मा कहो सब एक ही है, अलग नहीं। यहाँ यह बात संपूर्ण वस्तु की अपेक्षा से है। निश्चय से अनुभूति तो द्रव्य का परिणाम है, द्रव्य नहीं, यह द्रव्य से भिन्न है परन्तु जैसा द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है, वैसे ही शुद्ध की जो अनुभूति हुई वह अनुभूति आत्मा की जाति की है इसलिये आत्मा ही है ऐसा कहा है, जैसे- राग भिन्न चीज है वैसे अनुभूति भिन्न नहीं इसलिये आत्मा ही है। यह जिनेन्द्र का मार्ग अर्थात् आत्मा का मार्ग है।

यह सिद्ध स्वरूपी आत्मा नित्य, ध्रुव, आदि अंत रहित, परम पारिणामिक भाव रूप अखंड अभेद वस्तु है, त्रिकालशुद्ध है। इसे वर्तमान दशा रूप से देखने पर तो पर्याय है, परन्तु शुद्ध चैतन्य घन शाश्वत एक ज्ञायक भाव की दृष्टि होने पर पर्याय का भेद गौण हो जाता है। द्रव्य का अनुभवन पर्याय में होता है, परन्तु पर्याय का भेद उसमें गौण हो जाता है। वर्तमान पर्याय त्रिकाली में दृष्टि करके झुके वहां अभेद एक रूप आत्मा का अनुभव होता है यह सिद्ध स्वरूप का अनुभव ही सिद्ध स्वभाव की यथार्थ वंदना है।

स्वभाव की अनुभूति से पर्याय में भी सिद्धत्व प्रगट हो जाता है, इस तीसरी गाथा में ॐ नम: सिद्धम् मंत्र को समाहित करते हुए कारण कार्य का कथन किया है और यही ज्ञानी की सच्ची देव पूजा है यह बतलाया है -

ॐ नम: विंदते जोगी, सिद्धं भवति सास्वतं।
पण्डितो सोपि जानन्ते, देव पूजा विधीयते॥ ३॥

इस गाथा में 'उवं नम:' पद ऊंकार स्वरूप को नमस्कार स्वीकार एकत्व के अर्थ में है, अभिप्राय यह है कि योगी जन ऊंकार स्वरूप का एकत्वमय अनुभव वेदन करते हैं, 'उवं नम:' इस अनुभव के बल पर ही वे सिद्ध हो जाते हैं, 'सिद्धं भवति सास्वतं' शाश्वत सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार इस गाथा सूत्र में ॐ नम: सिद्धम् मंत्र कारण कार्य के रूप में स्पष्ट हुआ है कि अपना सिद्ध स्वरूप कारण परमात्मा है, इसका अनुभवन करने पर कार्य परमात्मा सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। इस सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए श्री गुरु तारण स्वामी ने श्री ज्ञान समुच्चय सार जी ग्रंथ में कहा है -

कारणं कार्ज सिद्धं च, जं कारणं कार्ज उद्यमं।
स कारणं कार्ज सिद्धं च, कारणं कार्जं सदा बुधैः॥
कारणं दर्सनं न्यानं, चरनं सुद्ध तपं धुवं।
सुद्धात्मा चेतना नित्यं, कार्जं परमात्मा धुवं॥
॥ गाथा-८०-८१॥

कारण से कार्य की सिद्धि होती है, जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। कार्य की सिद्धि होने पर ही कारण माना जाता है, इसी प्रकार ज्ञानीजनों ने कारण कार्य का स्वरूप बताया है। यदि कारण सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और ध्रुव स्वभाव है तो शाश्वत चैतन्यमय शुद्धात्मा में रमणता रूप अविनाशी परमात्म पद की प्रगटता रूप कार्य होगा।

ॐ नमः सिद्धम् में यही सिद्धांत प्रसिद्ध हो रहा है। इस तीसरी गाथा में सद्गुरु कहते हैं कि सिद्ध स्वरूप की अंतर में अनुभूति है, कारण-स्वयं का सिद्ध स्वरूप है तो पर्याय में सिद्ध पद की प्रगटता रूप कार्य होगा।

ऐसे ज्ञायक स्वभाव का अनुभव अपने पुरुषार्थ द्वारा होता है, पुरुषार्थ के बिना मिल जाये ऐसी बात नहीं है। योगीजन, ज्ञानी-एक ज्ञायक भाव का आश्रय लेकर एक ज्ञायक जिसमें प्रकाशमान है ऐसे सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा को अनुभवते हैं।

चैतन्य रस अन्य रस से विलक्षण है, ऐसा यह अत्यंत मधुर रस, अमृत रस है। अनुभव में स्वाद की मुख्यता है। श्री गुरु तारण स्वामी ने इस ॐ नमः सिद्धम् मंत्र में अपने सिद्ध स्वरूप के अनुभव की बात कही है। स्वरूप का सत्य ज्ञान, सम्यक्ज्ञान प्रगट हो उसे अपने चैतन्य के आनंद का स्वाद प्रत्यक्ष भासता है। ऐसा मधुर चैतन्य रस यह एक ही जिसका रस है, ऐसा निज शुद्धात्मा सिद्ध स्वरूप है ऐसा ज्ञानी जानता है। ज्ञान विशेष हो कि न हो, पर आत्मा का अनुभव होने पर आनंद का स्वाद आता है वह मुख्य है। पं. बनारसीदास जी ने कहा है -

वस्तु विचारत ध्यावतै, मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव ताको नाम॥
अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव है रस कूप।
अनुभव मारग मोख को, अनुभव मोख स्वरूप॥

आत्मा का ही अनुभव करना अर्थात् आनंद के वेदन में ही रहना, ठहरना। चिदानंद भगवान शुद्धात्मा ज्ञान आनंद का महान भण्डार है, उसे सम्यक्दर्शन ज्ञान द्वारा खोलकर अनुभूति ही करना।

आत्मा के अनुभव की विधि - अनेक विकल्पों द्वारा आकुलता उत्पन्न

करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को आत्म सम्मुख करना, उस समय ही विकल्प रहित होता हुआ आत्मा सम्यक्पने दिखाई देगा अर्थात् अनुभव में आयेगा। विकल्प बहिर्मुख भाव है, जो विकल्प में ही भटका रहता है वह तो बहिरात्मा है, इसलिये जो श्रुतज्ञान की बुद्धियों को मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान को अंतर में आत्माभिमुख करता है उसे आत्मा का अनुभव, आत्म दर्शन होता है। यही आत्मा के अनुभव की विधि है।

उवं नमः में इसी एकत्व अनुभूति की बात है, जिसके होने पर चारित्र अर्थात् स्वरूप में चरना, रमना, ठहरना, स्थिर होना होता है, जिससे **''सिद्धं भवति सास्वतं''** शाश्वत सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

आत्मा निर्विकल्प आनंद स्वरूप चैतन्य मय महाप्रभु है। यह चिदानंद भगवान चौरासी के अवतार करने योग्य नहीं है, यह तो अपने में रहने, परमात्म पद की प्राप्ति के योग्य है। आत्मा में भव और भव के भाव का अभाव है। भव और भव का भाव आत्मा के स्वभाव में नहीं है। तू भव के भाव से रहित है इसलिये सद्गुरु तारण तरण कहते हैं, हे भव्य! तू परमात्म स्वरूप है, उठ जाग, अब समस्त विकल्पों को छोड़कर तू अपने स्वभाव का अनुभव कर।

मैं मुक्त स्वरूप हूँ, परमात्म स्वरूप हूँ, परमेश्वर हूँ इत्यादि विकल्प रूप वृत्ति का जो उत्थान होता है, वह भी अनुभूति में हानिकारक है, तो फिर अन्य व्यवहार रत्नत्रय आदि के विकल्प की तो बात ही क्या है? यह तो वीतरागता का मार्ग है, जो शक्ति रूप से प्राप्त है उसी की पर्याय में प्राप्ति होती है, यही ॐ नमः सिद्धम् का अभिप्राय है।

यह अनुभव स्वरूप शुद्धात्मा चिदानंद घन वस्तु प्रभु, इसका विचार चिंतन-मनन करते हुए इसी की धुन में मग्न हो जाओ और अंतर में ठहरो इससे संकल्प-विकल्प ठहर जायें, मिट जायें तभी आनंद रस के स्वाद से सुख उत्पन्न होता है इसी का नाम अनुभव है और इससे ही सुख है। हे भव्य! तुझे सत्य की शरण लेना कठिन क्यों पड़ता है?

ॐ नमः सिद्धम् में निहित अपने सिद्ध स्वभाव की अनुभूति करने में किस बात की कठिनाई है? यह अनुभव तो स्वयं का अधिकार है, इसे तो अंतर में ही स्वीकार करना है, इसके लिये बाहर कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। स्वभाव के पक्ष में आकर, अपने सिद्ध स्वभाव को समर्पित होकर इस सत्य की प्रतीति तो कर। शुभ क्रिया और बाह्य प्रपंचों से भला होगा, कल्याण हो जायेगा, ऐसा मानकर संसार में परिभ्रमण बहुत किया है, अनंत काल गंवाया है और अब यह मनुष्य भव

महान पुण्योदय, बड़े भाग्य से मिला है। यदि इसे पाकर भी अपने स्वभाव की शरण नहीं ली, संसार चक्र को मेटने का पुरुषार्थ नहीं किया तो फिर यह सब प्रकार का अनुकूल संयोग शुभयोग बार-बार नहीं मिलेगा, इसलिये अब सब विकल्पों को मिटाकर ज्ञान विज्ञान स्वभावी आत्मा का अनुभव प्रगट कर ले इसी से संसार की चारगति चौरासी लाख योनियों का भ्रमण मिट जायेगा।

सद्गुरु तारण स्वामी जगा रहे हैं- श्री छद्मस्थ वाणी ग्रंथ में अपूर्व प्रेरणा दी है-

सोवत काहो रे ॥ ४-९ ॥
उठि कलस लेहु
सत्ता एक, सुन्न विंद उत्पन्न सुन्न सुभाव ॥ ४-१० ॥

हे भव्य ! अब सोते क्या हो, जागो,उठो, यह कलश लो, अपना सत्ता एक सुन्न विंद सुन्न स्वभाव उत्पन्न हुआ है, अनुभव में प्रगट हुआ है।

किसी जिज्ञासु ने सद्गुरु से निवेदन किया कि गुरुदेव ! हमारी अतीत की कथा क्या है और इस सत्य को आप ही हमें ग्रहण कराने की कृपा करें।

सद्गुरु ने कहा -

चौरासी उत्पन्न उत्पन्न उत्पन्न अनंत भव।
आपनौ आपनौ उत्पन्न निमिष निमिष लेहु-लेहु।
जैसे ले सकहु लेहु ॥ ४/१४, १५,१६ ॥

हे भव्य ! चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होते-होते, जन्म-मरण करते-करते तुमने अनन्त भव बिता दिये हैं, अनन्त काल बीत गया, अब इस जग चक्र से मुक्त होने के लिए अपना-अपना अनुभव अपने-अपने में उत्पन्न करो, यह अनुभव, आत्म जागरण कोई किसी को ले दे नहीं सकता, इसलिए अपनी-अपनी अंतरात्मा को जगाओ।

जितनी देर के लिए पलक झपकती है इसको निमिष कहते हैं, कम से कम निमिष भर के लिए ही इसको ग्रहण करो और **''जैसे ले सकहु लेहु''** यह सद्गुरु की करुणा हमें जाग्रत होने की प्रेरणा दे रही है।

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का अंतर जाप करें और आत्मोन्मुखी दृष्टि पूर्वक सिद्ध परमात्मा के समान अपने सिद्ध स्वभाव का अनुभव करें यही धर्म है जो संसार सागर से पार उतारने वाला है। मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ यह आराधन ही सारभूत है, अरिहंत सिद्ध परमात्मा के समान निज शुद्धात्मा है इसी अनुभूति और ॐ नम: सिद्धम् के भाव को श्री गुरु तारण स्वामी ने अपने अन्य ग्रंथों में भी स्पष्ट किया है।

श्री श्रावकाचार जी ग्रंथ में सद्गुरु कहते हैं -

देवं च न्यान रूपेन, परमिस्टी च संजुतं।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ॥ ४२ ॥
कर्म अस्ट विनिर्मुक्तं, मुक्ति स्थानेषु तिस्टिते।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ॥ ४३ ॥
दर्सन न्यान संजुक्तं, चरनं वीर्ज अनन्तयं।
मय मूर्ति न्यान संसुद्धं, देह देवलि तिस्टिते ॥ ४५ ॥
देवो परमिस्टि मइयो,लोकालोक लोकितं जेन।
परमप्पा ज्ञानं मइयो,तं अप्पा देह मज्झंमि ॥ ३२४ ॥
देह देवलि देवं च , उवइट्ठो जिनवरेंदेहि।
परमिस्टि च संजुत्तो, पूजं च सुद्ध संमत्तं ॥ ३२५ ॥

ज्ञान स्वरूपी देव जो परमेष्ठी मयी है अर्थात् अरिहंत परमात्मा हैं, वह मैं इस देह में विराजमान आत्मा हूँ ऐसा जो जानता है वह पंडित अर्थात् ज्ञानी है। (४२)

ज्ञानावरणादि आठों कर्म से सर्वथा रहित,मुक्ति स्थान में विराजमान सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही सिद्ध परमात्मा मैं इस देह में विराजमान आत्मा हूँ ऐसा जो जानता है वह पंडित अर्थात् ज्ञानी है। (४३)

अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य से संपन्न परिपूर्ण परमात्म स्वरूप परम शुद्ध ज्ञान मय चैतन्य चिदानंद मूर्ति देह देवालय में विराजमान है। (४५)

परमेष्ठीमयी परमदेव जो लोकालोक को जानने वाले हैं, वह ज्ञानमयी परमात्मा इस देह में विराजमान आत्मा ही है। (३२४)

देव, देह देवालय में विराजमान है, जो परमेष्ठी स्वरूप है, शुद्ध सम्यक्त्वी इसी की पूजा आराधना, अनुभव करते हैं ऐसा जिनवरेन्द्र तीर्थंकर भगवंतों का उपदेश है। (३२५)

श्री ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ में सद्गुरु कहते हैं -

ममात्मा परमं सुद्धं, मय मूर्ति ममलं धुवं।
विंद स्थानेन तिस्टंति, नमामिहं सिद्धं धुवं ॥ ४ ॥
ममात्मा ममलं सुद्धं, ममात्मा सुद्धात्मनं।
देहस्थोपि अदेही च, ममात्मा परमात्मं धुवं ॥ ४४ ॥
त्रि अष्यरं च एकत्वं, ॐ नमापि संजुतं।
नमं नमामि उत्पन्नं, नमामिहं विंद संजुतं ॥४५॥

निश्चय से मेरा आत्मा परम शुद्ध, ममल ध्रुव ज्ञानमय मूर्ति है, विंद स्थान में विराजमान सिद्ध ध्रुव स्वभाव को मैं नमस्कार करता हूँ। (४)

मेरा आत्मा ममल, शुद्ध है, मेरा आत्मा शुद्धात्मा है। देह में स्थित होते हुए भी निश्चय से मेरा आत्मा अदेही ध्रुव परमात्मा है। (४४)

ॐ नम: का अभिप्राय है इन तीन अक्षरों के एकत्व से संयुक्त हो जाना अर्थात् सिद्ध स्वरूप की अनुभूति से युक्त होना, इससे जिस सिद्ध स्वभाव को नमस्कार किया जा रहा है वह सिद्ध पद उत्पन्न हो जाता है, विंद भाव से संयुक्त होकर मैं सिद्ध स्वभाव को नमस्कार करता हूँ। (४५)

इस प्रकार ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की सिद्धि इसी ग्रंथ में गाथा ७०५ से ७११ तक की गई है, जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

श्री ममलपाहुड़ जी ग्रंथ के ३९ वें फूलना न्यान अन्मोय पच्चीसी गाथा में श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज कहते हैं–

स्वामी देहाले सुइ सिद्धाले भेउ न रहै।
जं जाके अन्मोय स न्यानी मुक्ति लहै॥

हे स्वामी ! जो आनंद घन परमात्मा देहालय में है, वही सिद्धालय में है इसमें अब कोई भेद नहीं है, जो ज्ञानी इसकी अनुमोदना करते हैं, इस सत्य वस्तु स्वरूप को अनुभूतिपूर्वक स्वीकार करते हैं वे सम्यक्ज्ञानी मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

स्वभाव की साधना आराधना करना ही मुख्य प्रयोजन है। अनादिकाल से इस जीव ने अपनी पहिचान के अलावा और सब कुछ किया, समवशरण में भी गया, परंतु परमात्मा के चैतन्य स्वरूप को नहीं जान सका। साक्षात् चैतन्य प्रभु देहालय वासी भगवान आत्मा का विस्मरण कर मोह में भूला रहा, पर में अपनी कल्पना की, इस कारण प्रभु का दर्शन संभव नहीं हो सका। इसका मुख्य कारण परमात्मा को सही दृष्टि से नहीं देखना ही रहा। यदि भगवान के सत्य स्वरूप का एक बार भी सही फैसला किया होता तो भगवान की पहिचान के साथ-साथ अपनी पहिचान भी अवश्य ही हो जाती। जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रवचनसार में लिखते हैं–

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, तस्स मोहो खलु जादि लयं॥ ८०॥

जो जीव अरिहंत परमात्मा को द्रव्य से, गुण से और पर्याय से जानता है वह अपने आत्मा को जानता है, निश्चय ही उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है।

जिस आत्मा के स्मरण आराधन ध्यान से अरिहंत भगवान महान बने, भगवान बने, हम उसी आत्म तत्त्व को भूल रहे हैं और अरिहंत परमात्मा भी यही कहते हैं कि अपने आत्मा को जानो पहिचानो यही मेरी देशना है और उस अनुरूप चलोगे तभी मेरी वंदना भक्ति आराधना भी सही होगी। अब हम भगवान को तो मान रहे हैं परंतु भगवान की बात कहां मान रहे हैं ?

वास्तविकता तो यही है कि आत्मा की श्रद्धा अनुभूति ही जीवन की सार्थकता का मूल आधार है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव अष्टपाहुड़ में कहते हैं –

णमिएहिं जं णमिज्जइ, झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ, देहत्थं किंपि तं मुणह॥

जो नमस्कार योग्य महापुरुषों से भी नमस्कार करने योग्य है, स्तुति करने योग्य सत्पुरुषों से स्तुति किया गया है और ध्यान करने योग्य आचार्य परमेष्ठी आदि से भी ध्यान करने योग्य है ऐसा यह सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा इस देह में बसता है। उसको ही परमात्मा जानो, यही इष्ट और उपादेय है।

शुद्ध निश्चय से आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। जैसे परमात्मा हैं वैसे ही स्वभाव से निज आत्मा है। इसी की साधना आराधना अनुभूति ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का मूल आधार है, इसके संबंध में श्री गुरु तारण स्वामी ने तो अपने ग्रंथों में सब स्पष्ट कहा ही है, अन्य वीतरागी संत जैनाचार्यों ने भी इस मंत्र के अभिप्राय के अनुरूप अनुभव दिए हैं।

आचार्य योगीन्दुदेव परमात्मप्रकाश में कहते हैं –

जेहउ णिम्मलु णाणमउ,सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु, देहहं मं करि भेउ॥ १-२६॥

जैसा केवलज्ञानादि प्रगट स्वरूप कार्य समयसार उपाधि रहित भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नो कर्म रूप मल से रहित, केवलज्ञानादि अनंत गुण रूप सिद्ध परमेष्ठी देवाधिदेव परम आराध्य मुक्ति में रहता है, वैसा ही सब लक्षणों सहित परब्रह्म,शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा उत्कृष्ट शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शक्ति रूप परमात्मा शरीर में तिष्ठता है इसलिए सिद्ध भगवान में और अपने में भेद मत कर। भेद दृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती। अनंत गुणों को धारण करने वाला धर्मी जो ऐसा अभेद आत्मा, ज्ञान दर्शन चारित्र प्रभुता आदि ऐसे अनंत गुणों का भेद लक्ष्य में लेने जाएगा तो राग उत्पन्न होगा तब तत्त्व का भेद करना तो दूर रहा परंतु गुण और गुणी का भेद करने जाएगा तो भी निर्विकल्प दशा नहीं होगी। वस्तु और उसकी शक्तियां ऐसे दो भेद , वह दृष्टि का विषय नहीं। दृष्टि का विषय तो अभेद अखंड

एक ज्ञायक सिद्ध स्वरूप है।

आचार्य योगीन्दुदेव इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

एहु जु अप्पा सो परमप्पा, कम्म विसेसें जायउ जप्पा।
जामइं जाणइ अप्पें अप्पा, तामइं सो जि देउ परमप्पा॥
॥ अध्याय २–गाथा १७४ ॥

यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदन ज्ञान से प्रत्यक्ष जो आत्मा वही शुद्ध निश्चय से अनन्त चतुष्टय स्वरूप, क्षुधादि अठारह दोष रहित निर्दोष परमात्मा है। वह व्यवहार नय से अनादि कर्म बंध के विशेष से पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है; परंतु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान पूर्वक अपने को जानता है उस समय यह आत्मा ही परमात्मा देव है।

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न हुआ जो परम आनंद उसके अनुभव में क्रीड़ा करने से देव कहा जाता है, यही आराधने योग्य है जो आत्म देव शुद्ध निश्चय नय से परमात्मा के समान है। ऐसा परमात्म देव शक्ति रूप से देह में है, जो देह में न होवे तो केवलज्ञान के समय कैसे प्रगट होवे।

वस्तु स्वभाव की दृष्टि से देखें तो स्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, द्रव्य रूप, परमात्म स्वरूप ही है। इसकी वर्तमान अवस्था पर द्रव्य के निमित्त से अशुद्ध हुई है, परंतु यह गौण है। आत्मा में दो प्रकार के भाव हैं– एक त्रिकाली स्वभाव और एक वर्तमान पर्याय भाव। यहां त्रिकाली स्वभाव जो सत् स्वरूप शाश्वत है वह कभी अशुद्ध नहीं हुआ, भेद रूप भी नहीं हुआ, निरंतर अपने स्वभाव से सत् चित् आनंद स्वरूप शुद्ध ही रहा है इसलिए पर्याय को गौण करके अभेद स्वभाव को ही दृष्टि में लेना यही इष्ट प्रयोजनीय है। कहा भी है–

जो परमप्पा णाणमउ, सो हउँ देउ अणंतु।
जो हउँ सो परमप्पु परु, एहउ जाणि णिभंतु॥
॥ परमात्मप्रकाश – २/१७५॥

जो परमात्मा ज्ञान स्वरूप है, वह मैं ही हूं, जो कि अविनाशी देव स्वरूप हूं,जो मैं हूं वही उत्कृष्ट परमात्मा है इस प्रकार नि:संदेह भावना कर।

द्रव्य दृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। द्रव्य का स्वभाव अभेद है,उस पर दृष्टि जाने पर दृष्टि भी अभेद है। त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखें तो द्रव्य तो निश्चय सत् है और उसके आश्रय से प्रगट हुई दृष्टि भी निश्चय है। आत्मा वस्तु त्रिकाल है यह भूतार्थ है, अनुभव के काल में स्वभाव और दृष्टि में कुछ भी भेद नहीं है। जैसा परमात्मा है वैसा ही मैं हूं।

ॐ नम: सिद्धम् की इस अनुभूति को श्री गुरु तारण स्वामी ने श्री छद्मस्थवाणी जी ग्रंथ में व्यक्त करते हुए कहा है कि –

सो सो सोहं, तूं सो तूं सो तूं सो ॥ ७/१॥
हों सो, हों सो, तूं सो, सोहं सोहं हंसो॥ ७/२॥
हुं जै, तूं जै, तुं जै, तूं जै सुभाइ सुभाइ सुभाइ मुक्ति विलसाइ॥ ७/४॥

इन सूत्रों का भाव यह है कि जो परमात्मा परम प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञानादि रूप लक्ष्मी का निवास है, ज्ञानमयी है, वैसा ही मैं हूं। यद्यपि व्यवहार नय से मैं कर्मों से बंधा हुआ हूं तथापि निश्चय दृष्टि से मेरे बंध भी नहीं है और मोक्ष भी नहीं है। जैसा भगवान का स्वरूप है, वैसा ही मेरा स्वरूप है, जो आत्मदेव महामुनियों के द्वारा परम आराधने योग्य है और अनंत सुख आदि गुणों का निवास है। इससे यह निश्चय हुआ कि जैसा परमात्मा यह आत्मा, और जैसा यह आत्मा वैसा ही परमात्मा है। जो परमात्मा है, वह मैं हूं,और जो मैं हूं वही परमात्मा है। 'सोहं' शब्द में 'अहं' यह शब्द देह में स्थित आत्मा का वाचक है और 'स:' शब्द मुक्ति को प्राप्त परमात्मा का वाचक है। इन सूत्रों के सार स्वरूप मुख्य बात यह ध्यान में रखने की है– जो परमात्मा है वह मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है।

परमात्मा अपने स्वभाव से मुक्ति में विलस रहे हैं और यह आत्मा भी अपने स्वभाव से मुक्ति में विलस रहा है। सद्गुरु ने इसी की जय जयकार करते हुए स्वभाव की महिमा जगाई है। उनके अंतर में जय जयकार मच रही है कि प्रभु तुम्हारी जय हो, जय हो, शुद्धात्म देव की जय हो, जैसे भगवन् आप हो वैसा ही मैं हूं यह अंतर में अनुभव करते हुए स्वभाव की जय जयकार कर अपना आनंद लिया है; और ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के द्वारा हम सभी भव्यात्माओं को भी स्वभाव की साधना आराधना और अनुभव करने की प्रेरणा दी है, क्योंकि यह सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा शुद्ध परम पवित्र है, बुद्ध अर्थात् ज्ञान स्वरूप है, चैतन्य घन अर्थात् असंख्य प्रदेशी है। आत्मा स्वयं ही परमानंद परम ज्योति स्वरूप है अर्थात् स्वयं सिद्ध वस्तु है, इसको किसी ने न उत्पन्न किया है और न ही कोई इसको नाश करने वाला है। वह परम सुखधाम अर्थात् आनंद, परम आनंद, अतीन्द्रिय आनंद का धाम है। ऐसा आत्मा अभेद एक रूप परम सत्य यथार्थ वस्तु तत्त्व है। इसका ''कर विचार तो पाम ''अर्थात् ज्ञान की पर्याय में स्वसंवेदन द्वारा ऐसे अपने महिमामय सिद्ध स्वभाव को लक्ष्य में लें तो उसकी प्राप्ति होवे।

अपने अनंत गुणों में व्यापक, अभेद,अखंड जो ध्रुव तत्त्व इसकी दृष्टि करना

यही परम तत्त्व परमात्मा अपना स्वभाव है। आचार्य कुन्दकुन्द देव इसी कारण परम तत्त्व के स्वरूप का कथन करते हुए कहते हैं–

जाइ जर मरण रहियं, परमं कम्मट्ठ वज्जियं सुद्धं।
णाणाइ चउ सहावं, अक्खयमविणासमच्छेयं॥
अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्ण पाव णिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं॥
॥ नियमसार–१७७, १७८ ॥

परम आत्म तत्त्व, जन्म जरा मरण रहित–परम, आठ कर्म रहित–शुद्ध, ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला, अक्षय,अविनाशी और अच्छेद्य है।

जिस सिद्ध स्वभाव का संपूर्ण आश्रय लेने से सिद्ध हुआ जाता है, ऐसे कारण परम तत्त्व की महिमा अपूर्व है। यह तत्त्व स्वभाव से संसार का अभाव होने के कारण जन्म जरा मरण रहित है, परम पारिणामिक भाव द्वारा परम स्वभाव वाला होने के कारण परम है, तीनों काल निरुपाधि स्वरूप वाला होने के कारण आठ कर्म रहित है, द्रव्य कर्म और भाव कर्म रहित होने के कारण शुद्ध है। सहज ज्ञान,सहज दर्शन, सहज चारित्र और सहज चित् शक्तिमय होने के कारण ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला है, सादि सांत, मूर्त इन्द्रियात्मक विजातीय विभाव व्यंजन पर्याय रहित होने के कारण अक्षय है, प्रशस्त अप्रशस्त–गति के हेतुभूत पुण्य–पाप कर्म रूप द्वन्द का अभाव होने कारण अविनाशी है, वध, बन्ध और छेदन के योग्य मूर्तिकपने से रहित होने के कारण अच्छेद्य है।

यह कारण परम तत्त्व अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य–पाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य अचल और निरालम्ब है।

समस्त दुष्ट अघ (पुण्य–पाप) रूपी वीर शत्रुओं की सेना के उपद्रव को अगोचर ऐसे सहज ज्ञान रूपी गढ़ में आवास होने के कारण अव्याबाध (निर्विध्न) है, सर्व आत्म प्रदेश में भरे हुए चिदानंदमयपने के कारण अतीन्द्रिय है, तीन तत्त्वों (बहिरात्म तत्त्व, अंतरात्म तत्त्व और परमात्म तत्त्व) इन तीनों तत्त्वों में विशिष्ट, मुख्य प्रकार का, उत्तम होने के कारण अनुपम है, संसार रूपी संयोग से उत्पन्न होने वाले सुख–दु:ख का अभाव होने के कारण पुण्य–पाप रहित है, पुनरागमन (संसार में आवागमन) के हेतुभूत प्रशस्त–अप्रशस्त मोह, राग–द्वेष का अभाव होने के कारण पुनरागमन रहित है, नित्य मरण के तथा उस भव संबंधी मरण के कारणभूत कलेवर (शरीर) के संबंध का अभाव होने के कारण नित्य है, निज गुणों और पर्यायों से च्युत न होने के कारण अचल है, पर द्रव्य के अवलंबन का अभाव होने के कारण निरालंब है।

श्री मद् जिन तारण स्वामी ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ में कहते हैं –

अप्पा परमप्प तुल्यं च, परमानंद नंदितं।
परमप्पा परमं सुद्धं, ममलं निर्मलं धुवं॥ ७९ ॥

आत्मा, परमात्मा के समान परम आनंद से आनंदित परम शुद्ध परमात्मा है। यह आत्मा, परमात्म स्वरूप ममल निर्मल और ध्रुव स्वभावी है।

चित् शक्ति से रहित अन्य सकल भावों को मूल से छोड़कर और चित्शक्ति मात्र ऐसे निज आत्मा का अति स्फुट रूप से अवगाहन करके, आत्मा समस्त विश्व के ऊपर प्रवर्तमान ऐसे इस केवल (एक) अविनाशी आत्मा को आत्मा में साक्षात् अनुभव करो।

जैसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, आचार्य की आज्ञा को अनुभव प्रमाण स्वीकार करो।

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जर मरण जम्म मुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण॥
असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा, तह जीवा संसिदी णेया॥
॥ नियमसार–४७, ४८ ॥

जैसे सिद्ध आत्मा हैं वैसे भवलीन (संसारी) जीव हैं, जिससे (वे संसारी जीव सिद्धात्माओं की भांति) जन्म जरा मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं। जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवन्त अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उसी प्रकार संसार में सर्व जीव हैं।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में कोई अंतर नहीं है। जो कोई अति आसन्न भव्य जीव हुए, वे पहले संसारावस्था में संसार क्लेश से थके चित्त वाले होते हुए सहज वैराग्य परायण होने से द्रव्य भाव लिंग को धारण करके परम गुरु के प्रसाद से प्राप्त किए हुए परमागम के अभ्यास द्वारा सिद्ध दशा को प्राप्त करके बाधा रहित (अव्याबाध) सकल विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलवीर्य युक्त सिद्धात्मा हो गए जो कि सिद्धात्मा कार्य समयसार रूप हैं, कार्य शुद्ध हैं। जैसे वे सिद्धात्मा हैं, वैसे ही शुद्ध निश्चय नय से भव वाले संसारी जीव हैं। जिस कारण वे संसारी जीव सिद्धात्मा के समान हैं, उस कारण वे संसारी जीव जन्म जरा मरण से रहित और सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित हैं।

यहां ॐ नम: सिद्धम् में निहित जो स्वानुभव मय सार तत्त्व है ऐसे कार्य समयसार और कारण समयसार में अन्तर न होने की बात कही जा रही है। जैसे

सिद्ध परमात्मा औदारिक आदि पांच शरीरों से रहित होने से 'अशरीरी' हैं। निश्चय से नर-नारकादि पर्यायों के ग्रहण त्याग के अभाव होने से अविनाशी हैं, इन्द्रिय प्रपंच से अत्यंत दूर, अपने परिपूर्ण स्वभाव में स्थित होने से अतीन्द्रिय हैं, रागादि मल अर्थात् द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म रूप मल से रहित होने से निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उनके समान ही निश्चय नय की दृष्टि से समस्त संसारी जीव भी अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्ध हैं।

अपना शुद्धात्मा भगवान पूर्ण चैतन्य घन, आनंद घन, निराकुल शांति का रस कंद जो त्रिकाल ध्रुव है वही मैं हूं, अनादि अनंत ध्रुव चैतन्य रूप विद्यमान तत्त्व को शुद्धात्मा भगवान कहते हैं, इसी की दृष्टि करना धर्म है, यहीं से धर्म की शुरुआत होती है। जो जीव भेदविज्ञान पूर्वक अपने सत्स्वरूप को जानते अनुभव करते हैं, वे ही अपने स्वरूप की आराधना में रत रहते हैं। ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के द्वारा भी जब तक वे सिद्ध प्रभु का आराधन कर अपने आत्म स्वरूप का चिंतन-मनन करते हैं, तब तक उनकी यह स्वभाव की भेद भक्ति कहलाती है, इसमें भी ज्ञानी अपने स्वरूप का ही चिंतन-मनन का आश्रय रखते हैं, पर का लक्ष्य नहीं करते क्योंकि अमृत मय स्वरूप का अनुभव एक बार हो जाने पर फिर उसी की ललक, भावना प्रबल हो जाती है। यही आत्मानुभूति की महिमा है। इस भेद की स्थिति में भी ज्ञानी अपने अभेद स्वरूप का चिंतन करते हैं। जैसा कि कहा है-

केवलणाण सहावो , केवल दंसण सहाव सुह मइओ।
केवल सत्ति सहावो , सोहं इदि चिंतए णाणी॥
णियभावं णवि मुच्चइ , परभावं णेव गेण्हए केइ।
जाणदि पस्सदि सव्वं , सोहं इदि चिंतए णाणी॥
॥ नियमसार-९६, ९७॥

केवलज्ञान स्वभावी, केवलदर्शन स्वभावी, सुखमय और केवल शक्ति स्वभावी वह मैं हूं ऐसा ज्ञानी चिंतन करते हैं।

जो निज भाव को नहीं छोड़ता, किंचित् भी परभाव को ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता देखता है, वह मैं हूं ऐसा ज्ञानी चिंतवन करते हैं।

ज्ञानी के ज्ञान में वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय है, अभेद अनुभूति के समय में तो अंतर में कोई विकल्प रहता ही नहीं है, क्योंकि ध्रुव स्वभाव विकल्प रहित है, वह विकल्पों से पकड़ में नहीं आता इसलिये अनुभव के काल में द्रव्य, गुण, पर्याय संबंधी विकल्प भी नहीं होते किन्तु ज्ञानी जब भेद रूप दशा में होता है तब भी लक्ष्य अपने स्वभाव का ही वर्तता है, क्योंकि वह जानता है कि भेद के

लक्ष्य से राग और अभेद के लक्ष्य से वीतराग होता है।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जीव अपने आत्मा को, आत्मा से आत्मा के लिए, आत्मा को, आत्मा में स्थापित कर अपना ही अनुभव करता है, यह अभेद अनुभूति ॐ नम: सिद्धम् है। यह मंत्र उच्चारण करते समय भेद रूप विकल्प रूप अनुभव में आता है परन्तु जब परमात्मा और स्वभाव के चिंतन रूप विकल्पों का अभाव होकर मात्र चैतन्य सत्ता शेष रहती है, संवेदन मात्र स्वसंवेदन रूप रह जाता है यह स्वभाव की निर्विकल्प अनुभूति ही ॐ नम: सिद्धम् है।

मंत्र तो एक शक्ति होती है, जिसमें बहुत विशेषता होती है,और स्वानुभूति से बड़ी दुनियाँ में दूसरी कोई शक्ति नहीं होती, यह ऐसी महान आत्म शक्ति है जिसके प्रगट होने पर संसार के दु:ख क्षय हो जाते हैं, परम सुख की प्राप्ति हो जाती है। रिद्धियां-सिद्धियां तो ऐसे अनुभवी ज्ञानी योगियों के चरणों में लोटती हैं, फिर भी उन्हें इनकी ओर का कोई लक्ष्य नहीं रहता, क्योंकि उनका लक्ष्य तो मुक्त होने का है। ॐ नम: सिद्धम् में वह परम शक्ति छिपी हुई है जो अनुभव स्वरूप है, जिसके प्रगट होने पर सिद्धि मुक्ति का मार्ग स्वयमेव बन जाता है।

ॐ नम: सिद्धम्

(शिक्षा, व्याकरण और इतिहास के क्षेत्र में)

श्री गुरु तारण स्वामी का जन्म विक्रम संवत् १५०५ में हुआ था, अपने ६६ वर्ष ५ माह १५ दिवसीय जीवन काल में उन्होंने अपने आपको त्याग वैराग्य ज्ञान ध्यान संयम तप मय बनाया तथा चौदह ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों में सार मत के अंतर्गत श्री ज्ञान समुच्चय सार ९०८ गाथाओं में निबद्ध किया है। इसी ग्रंथ में आगम में वर्णित मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों का वर्णन किया है।[१]

गुणस्थानों का स्वरूप वर्णन करने के पश्चात् गुणस्थानातीत सिद्ध परमात्मा को ऊर्ध्वगामी ऊंकार मयी आत्मा विंद स्थान में लीन परमात्मा कहा है।[२]

उन ऊंकार मयी सिद्ध परमात्मा के समान ही अपने ऊंकार मयी सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा का स्मरण ध्यान करते हुए कहा है कि सिद्ध प्रभु के समान ही मैं आत्मा स्वभाव से परिपूर्ण रत्नत्रयमयी आत्मा शुद्ध निर्मल परमात्मा हूं, सिद्ध

---

१. ज्ञान समुच्चय सार, गाथा ६५८ से ७०४

२. वही, गाथा ७०५

परमात्मा के और मेरे आत्म स्वभाव में निश्चय नय अपेक्षा किंचित् मात्र भी अंतर नहीं है।[३]

अपने इसी ॐकार मयी सत्ता स्वरूप सिद्ध परमात्मा के समान शुद्धात्म स्वभाव की अनुभूति, अपने में एकत्व होकर करना ही सिद्ध स्वभाव को नमस्कार है। यही यथार्थ नमस्कार है, इस नमस्कार की महिमा यह है कि जिस सिद्ध स्वभाव और सिद्ध पद को नमस्कार कर रहे हैं वह सिद्ध पद प्रगट हो जाता है, ऐसे शुद्ध सिद्ध स्वभाव को निर्विकल्प स्वभाव में स्थित होकर नमस्कार करता हूं।[४]

इस प्रकार शुद्ध सिद्ध स्वभाव का एकत्व अनुभूति से यह पाँच अक्षर ॐ नम: सिद्धम् उत्पन्न हुए हैं, इन पांच अक्षरों की अनुभूति रागादि मोह से रहित शुद्ध स्वभाव की अनुभूति है इसी से जीव संसार के दु:खों से छूटकर सिद्ध मुक्त हो जाता है।[५]

श्री जिन तारण स्वामी ने ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के आध्यात्मिक अर्थ पूर्वक मंत्र की सिद्धि की है अर्थात् अपने अनुभव से प्रमाण किया है क्योंकि वे मोक्षमार्गी आध्यात्मिक ज्ञानी योगी साधु थे, उन्हें आत्मोन्मुखी दृष्टि के लक्ष्य से यही अर्थ अभीष्ट है। ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की चर्चा करते हुए स्व. ब्र.श्री शीतल प्रसाद जी ने लिखा है–''इस पांच अक्षरी ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के वाच्य परम शुद्ध सिद्धात्मा के अनुभव से उत्पन्न पंचम केवलज्ञान तथा साम्यभाव सहित यह भव्य जीव राग–द्वेषादि मोह भावों से छूटकर शुद्ध आत्मिक भाव रूप होकर संसार से पार उतर जाता है। ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के जपने से व ध्याने से, सिद्ध भगवान को भाव नमस्कार करने से, सिद्ध रूप अपने ही आत्मा को अनुभव करने से धर्म ध्यान होता है, फिर शुक्ल ध्यान होता है जिससे चार घातिया कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान का व पूर्ण वीतरागता का लाभ होता है। सर्व राग–द्वेष मोहादि छूट जाता है, फिर चार अघातिया कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और आत्मा संसार से पार हो मुक्त हो जाता है। यहां तारण स्वामी ने यह प्रेरणा दी है कि मोक्ष के इच्छुक को उचित है कि इस पांच अक्षरी मंत्र के द्वारा सिद्धों का स्वरूप विचार कर अपने आत्मा को सिद्ध स्वरूपमय ध्यावे।[६]

---

३. वही, गाथा ७०७

४. ज्ञान समुच्चय सार, गाथा ७०८

५. वही, गाथा ७११

६. ज्ञान समुच्चय सार की टीका ब्र. शीतल प्रसाद जी, गा. ७११ पृ. ३३४ श्री दिगम्बर जैन तारण तरण चैत्यालय ट्रस्ट कमेटी सागर प्रकाशन १९९६

आध्यात्मिक शुद्धात्मवादी वीतरागी संत श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज ने इस प्रकार ॐ नम: सिद्धम् की आध्यात्मिक विवेचना कर अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ऋ,ॠ,लृ,ॡ,ए,ऐ,ओ,औ,अं,अह: आदि स्वरों का तथा क, ख,ग आदि तेतीस व्यंजनों का भी साधनापरक आध्यात्मिक वर्णन किया है।[७]

इस संपूर्ण विवेचन से यह भली भांति स्पष्ट हो रहा है कि प्राचीन समय में विद्यार्थियों को अक्षराम्भ कराने के पहले ॐ नम: सिद्धम् पढ़ाया जाता था जिसे श्री गुरु तारण स्वामी ने भी निश्चित रूप से पढ़ा होगा और उसकी आध्यात्मिक अनुभूति को स्वीकार कर स्वयं के साथ–साथ अनेकों भव्य जीवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने ज्ञान समुच्चय सार जी ग्रंथ में ॐ नम: सिद्धम् और वर्णमाला का आध्यात्मिक स्वरूप विवेचन किया है तो इससे यह नहीं समझना चाहिए कि श्री जिन तारण स्वामी के समय से ही 'ॐ नम: सिद्धम्' के साथ वर्णमाला का क्रम प्रारंभ हुआ है। इस संदर्भ में स्मरणीय बात यह है कि 'ॐ नम: सिद्धम्' के स्मरण पूर्वक अक्षराम्भ करना यह अत्यंत प्राचीन परंपरा रही है।

श्री गुरु तारण स्वामी ने इस मंत्र का आध्यात्मिक अभिप्राय स्वयं के जीवन में जाना,उसका अनुभव किया और ॐ नम: सिद्धम् के साथ संपूर्ण वर्णमाला सिद्ध मातृका का आध्यात्मिक सार संदेश भारत के लोगों को दिया। भारतीय जनमानस पर उनका यह अनंत उपकार है। पूर्वाचार्यों की परंपरा से यह मंत्र अभी तक चला आ रहा है, इसका अर्थ यही है कि 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र के स्मरण की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। कुछ पुरातन विद्वानों का कथन है कि अक्षरावली को सिद्ध मातृका इस कारण से कहते हैं कि उसका प्रारंभ 'ॐ नम: सिद्धम्' जैसे मंगल वाक्य से होता है। ऐसा मानने वालों में ८ वीं शताब्दी में हुए भगवज्जिनसेनाचार्य का नाम अग्रगण्य है। उनकी रचना महापुराण इस बात का प्रमाण है, उन्होंने लिखा है–

ततो भगवतो वक्त्राब्धि: सृताम् अक्षरावलीम्।
सिद्धम् नम: इति व्यक्त मंगलां सिद्ध मातृकाम्॥
॥ महापुराण–१६/१०५॥

अर्थात् इसके बाद भगवान के मुख से अक्षरावली प्रकाशित हुई वह **सिद्धम् नम:,** इस मंगल वाक्य के साथ प्रारंभ हुई इसी कारण वह 'सिद्ध मातृका' कहलाई। अभिप्राय यह हुआ कि अक्षरावली तो पहले से थी, किंतु **'सिद्धम्**

---

७. श्री तारण तरण अध्यात्मवाणी, श्री तारण तरण जैन तीर्थक्षेत्र निसई जी ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पृष्ठ ५९.

नमः' मंगल वाक्य से प्रारंभ होने के कारण उसका नाम सिद्ध मातृका पड़ा। भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण रचने का उपक्रम किया था, किंतु दैव दुर्विपाक से शक सं. ७७० में उनका निधन हो गया। उस समय तक उन्होंने आदि पुराण के १०३८० श्लोकों की रचना की थी, उनकी समाधि के उपरान्त शेष १६२० श्लोक उनके शिष्य श्री गुणभद्र जी ने लिखे हैं, इसमें भगवान ऋषभदेव का संपूर्ण जीवन दर्शन कराया गया है। उत्तर पुराण की रचना गुणभद्र ने की है उसमें शेष २३ तीर्थंकरों का जीवन वर्णित है। भगवज्जिनसेनाचार्य एक महान आचार्य दार्शनिक और कवि थे। उन्होंने आदि पुराण में लिखा है कि जब भगवान ऋषभदेव ने अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को लिपि का ज्ञान कराया तो 'ॐ नमः सिद्धम्' से ही 'बारहखड़ी' का प्रारंभ किया, वह उद्धरण इस प्रकार है –

न बिना वाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्रं कलापि वा।
ततो वाङ्मयमेवादौ वैद्यास्ताभ्यामुपदिशात्॥ १०४॥

वाङ्मय के बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है, इसलिए प्रभु ऋषभदेव उन दोनों पुत्रियों को सबसे पहले वाङ्मय का ही उपदेश देते हैं।

ततो भगवतो वक्त्राद्निः सृताम् अक्षरावलीम्।
सिद्धं नमः इति व्यक्त मंगलां सिद्ध मातृकाम्॥
अकारादि हकारान्तं शुद्धां मुक्तावलीमिव।
स्वर व्यंजन भेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम्॥
अयोगवाह पर्यन्तां सर्व विद्या सुसंगताम्।
संयोगाक्षर संभूतिं नैक बीजाक्षरैश्चिताम्॥
समवादीदधत् ब्राह्मी मेधाविन्मति सुन्दरी।
सुन्दरी गणित स्थानं क्रमैः सम्यगधारयत्॥
॥ महापुराण १६ वां सर्ग, १०४–१०८ ॥

एक मराठी ग्रंथ 'जैन धर्माचे प्रचीनत्व' के लेखक तात्या साहेब चोपड़े ने पृष्ठ १७८ पर इन उपर्युक्त श्लोकों की रोचक और महत्वपूर्ण व्याख्या की है –

''या नंतर भगवंताच्या मुख कमलापासूनंनिधा लेली. 'नमः सिद्धम्' या उच्चरने जिचें मंगल व्यक्त झाले आहे, जिला सिद्ध मातृका असे नांव आहे. म्हणजे 'ॐ नमः सिद्धम्' हे मंगल जिला आहे अशी व मुक्तावली प्रमाणे अत्यन्त शुद्ध स्वर व्यंजन या भेदाने दोन प्रकारची असणारी अयोग पर्यन्त ची आहे. अः इति विसर्जनीयः एक इति जिह्वामूलीयः ष्पइत्युपध्मानीयः, अं इत्यनुस्वारः एतानि चत्वारि अक्षराणि विसर्गादीनि केवलानि वर्तते अकार, पकार, ककार एतैः सहयोगं वहति तदुच्चारणार्थमेव। अन्यथा एतानि चत्वार्यक्षराणि उच्चारयितुं न शक्यते ''।[८]

भगवान के मुख से निकली अक्षरावली सिद्धम् नमः इस मंगल वाक्य से प्रारंभ हुई अतः उसे सिद्ध मातृका कहा गया। वह अकार से हकार पर्यन्त थी और शुद्ध मुक्तावली के समान थी। स्वर और व्यंजन दो भेदों से युक्त थी। शुद्ध मुक्तावली का अर्थ है–मोती के दाने। मोती आवदार होता है तो क्या इसका अर्थ है कि वे अक्षर मोती से लिखे गये थे ? जहाँ तक संभव है कि वह मुक्तावली के समान पवित्र थी। यदि आज के शब्दों में लिखा जाये तो पूर्ण रूपेण वैज्ञानिक थी। ऐसी वैज्ञानिक अक्षरावली विश्व की कोई अन्य नहीं है। इस अक्षरावली को मेधाविनी ब्राह्मी ने धारण किया था। भगवान ने अपनी दूसरी पुत्री को अंक विद्या (गणित) प्रदान की और उसका प्रारंभ भी 'नमः सिद्धम्' से हुआ। भगवज्जिनसेनाचार्य की मान्यता थी कि कोई भी विद्या सीखनी हो उसका प्रारंभ 'ॐ नमः सिद्धम्' से ही होता था।

पद्मचरित (पद्मपुराण) संस्कृत जैन कथा साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ है। इस ग्रंथ के रचयिता श्री रविषेणाचार्य, इस ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध में स्वयं कहते हैं कि जिन सूर्य श्री वर्धमान जिनेन्द्र के मोक्ष जाने के बाद एक हजार दो सौ वर्ष छह मास बीत जाने पर श्री पद्ममुनि (राम) का यह चरित लिखा गया है। इसी आधार पर पं. श्री नाथूराम प्रेमी ने जैन साहित्य और इतिहास में लिखा कि विक्रम संवत् ७३३ के लगभग पद्म की रचना पूर्ण हुई थी।[९]

श्री रविषेणाचार्य जी के पद्मचरित से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय विद्याभ्यास मौखिक और लिखित दोनों रूपों में किया जाता था। प्रारंभ में वर्णमाला सीखना आवश्यक था और ॐ नमः सिद्धम् से इसका प्रारंभ होता था। श्री रविषेणाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है कि चक्रपुर के महाराज चक्रधर की कन्या चित्रोत्वा ने गुरु के घर जाकर खड़िया मिट्टी से ॐ नमः सिद्धम् के साथ वर्णमाला सीखी।[१०]

इन सभी ग्रंथों के अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत जी ने महापुराण की रचना की थी। यह ग्रंथ श्री माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रंथमाला बम्बई से सन् १९३७–४१ में प्रकाशित हो चुका है। इसमें त्रेषठ शलाका के महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया गया है। पंडित नाथूराम प्रेमी के अनुसार पुष्पदंत

८. जैन धर्माचे प्राचीनत्व, तात्या साहेब, मराठी ग्रंथ, पृष्ठ १७८
९. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ८५, मुंबई प्रकाशन, द्वि. सं.
१०. रविषेणाचार्यकृत पद्मचरित –२६/७

जी का साहित्यिक काल शक संवत् ८८१ से ८९४ तक है।[११]

अपभ्रंश भाषा के इस महापुराण ग्रंथ में भी लिखा है कि तीर्थंकर ऋषभदेव ने भी ब्राह्मी और सुन्दरी को अक्षर और गणित की शिक्षा दी उसका प्रारंभ ॐ नम: सिद्धम् से किया ऐसा अभिप्राय ग्रंथ की निम्नलिखित दो पंक्तियों से स्पष्ट है–

भावे णमसिद्धं पभणेप्पणु दाहिण बामं करेहिं लिहेप्पिणु।
दोहिं मि णिम्मलकंचनवण्णहं अक्खर गणिपइं कण्णहं॥

अर्थ– भावपूर्वक सिद्ध को नमस्कार कर भगवान ऋषभदेव ने दोनों ही निर्मल कंचनवर्णी कन्याओं को, दायें और बायें हाथ से लिखकर अक्षर और गणित बताया अर्थात् उसका ज्ञान कराया।[१२]

कवि अर्हद्दास, पंडित आशाधर जी के समकालीन माने गए हैं, अपनी रचना में आशाधर जी से प्राप्त प्रेरणा का उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है। कवि अर्हद्दास द्वारा लिखित तीन रचनायें, काव्य रूप में उपलब्ध हैं– मुनि सुव्रत काव्य, पुरुदेव चम्पू और भव्यजन कण्ठाभरणं।

कवि अर्हद्दास ने ब्राह्मी और सुन्दरी के शिक्षा ग्रहण का प्रसंग अत्यंत लालित्य पूर्ण ढंग से व्यक्त किया है, उन्होंने ब्राह्मी में विद्या की उत्पत्ति इस प्रकार मानी है, जैसे– प्राची दिशा में शुक्ल पक्ष का चन्द्रउदय हो गया हो।[१३]

ब्राह्मीं तनूजा मति सुन्दरांगीं,
ब्रह्मनाथ: तस्यामुत्पादयत्स:।
कला निधि: पूर्ण कलां मनोज्ञां,
प्राच्यं दिशायामिव शुक्ल पक्ष:॥

'पुरुदेव चम्पू' एक काव्य है। इसमें गद्य और पद्य दोनों हैं। एक स्थान पर कवि अर्हद्दास लिखते हैं कि ब्राह्मी और सुंदरी दोनों के विवेक और शील को देखकर जगत्गुरु भगवान ऋषभदेव ने विचार किया कि यह समय इनके लिए विद्या ग्रहण का है अत: उन्होंने दोनों को 'ॐ नम: सिद्धम्' से प्रारंभ होने वाली 'सिद्ध मातृका' का उपदेश दिया, गणित सिखाया और व्याकरण, छन्द, अलंकार आदि की शिक्षा दी। इसका संस्कृत अंश इस प्रकार है–

''तदनुवयो विनय शीलादिकं विलोक्य जगद्गुरु विद्या स्वीकरण कालोऽयं इति मत्वा ब्राह्मी–सुंदरीभ्यां 'ॐ नम: सिद्धम्' इति मातृकोपदेशपुर:सरं गणितं स्वायमुवाभिधानानि पद विद्या छन्दो विचिंत्यालंकार शास्त्राणि''।[१४]

'णाय कुमार चरिउ' जिसे हिन्दी में नागकुमार चरित्र कहते हैं। आचार्य पुष्पदन्त की यह दूसरी महत्वपूर्ण रचना है। इसका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद, प्राकृत–अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. हीरालाल जैन ने किया था। यह ग्रंथ भारतीय ज्ञानपीठ से ई.सन् १९७२ में प्रकाशित हो चुका है। इसी ग्रंथ का एक प्रसंग है –

''एक राजा का सद्य: जात बेटा तालाब में गिर गया, वहाँ वह उस तालाब के अधिनायक नागराज के फण पर जाकर अटक गया। नागराज ने बालक के सौन्दर्य, स्वास्थ्य और भविष्यगत क्षमताओं को परखते हुए उसका प्रेम पूर्वक लालन–पालन किया। जब वह लड़का बड़ा हुआ तो नागराज ने उसे विद्या देना प्रारंभ किया, उसका वर्णन श्री पुष्पदंत जी करते हैं–

सिद्धं भणेवि अट्ठारह लिपिउ भुअंगउ।
दक्खालइ सुयहो मेहावि अणंगउ॥
कालक्खरइं गणियइं गंधवइं वायरणाइं सिक्खिउ।
सोणिच्चं पढ़ंतु हुउ पंडिउ वाएसरि णिरिक्खिउ॥[१५]

अर्थ– 'सिद्ध भगवान को नमन करो 'ऐसा कहकर नाग ने पुत्र को अठारह प्रकार की लिपियां सिखाई और वह कामदेव जैसा मेधावी पुत्र उन्हें सीखने लगा। नाग ने उसे स्याही से काले अक्षर लिखना, गणित गान्धर्व विद्या (संगीत) कला और व्याकरण सिखलाया। नित्य पढ़ते–पढ़ते नागकुमार सरस्वती का निवास पंडित बन गया।

पूर्वकाल में 'सिद्ध वंदन' के साथ शिक्षा प्रारंभ की जाती थी, जिसका परिणाम यह होता था कि विद्यार्थियों के जीवन में अध्यात्म बीज के रूप में सुरक्षित हो जाता था, यही अध्यात्म का बीजांकुर उनके जीवन को भविष्य में अध्यात्ममय बना देता था। अध्यात्म की मूल भावना होने से विद्यार्थियों में सहजता, मृदुता, गुरु भक्ति, विद्या के प्रति समर्पण आदि अनेक गुण हुआ करते थे, क्योंकि शिक्षा का मूल उद्देश्य भी शिक्षार्थी के जीवन को अध्यात्ममय और ज्ञानमय बनाना होता है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने ग्रंथ कला और संस्कृति में मनु का उल्लेख करते हुए लिखा है कि मनु के शिक्षा क्रम का उद्देश्य डाक्टर, वकील, इंजीनियर, अथवा इनके समान पेशेवर लोग उत्पन्न करना नहीं है बल्कि ऐसे

११. जैन साहित्य और इतिहास, पंडित नाथूराम प्रेमी, बम्बई पृष्ठ २५०
१२. कवि पुष्पदंत कृत महापुराण (अपभ्रंश) ५/२८
१३. पुरुदेव चम्पू– ६/३९, ४०

१४. पुरुदेव चम्पू–७, पृष्ठ १४२
१५. णायकुमार चरिउ, पुष्पदंत, डॉ. हीरालाल जैन द्वारा संपादित, ३/१ पृष्ठ ३६१, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १९७२

आचारवान लोगों को बनाना है जो शरीर और मन से बलवान हो और जिनकी श्रद्धा दृढ़ हो।[१६]

डाक्टर विमलाचरण ने अपने ग्रंथ "India as described in early texts of budhism and Jainism" में अनुयोग द्वार सूत्र के माध्यम से लिखा है कि शिक्षा वह है जो छात्र को लौकिक और लोकोत्तर दोनों में निष्णात बनाये वही शिक्षा वास्तविक शिक्षा है।[१७]

अध्यात्म शिरोमणि पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज आत्मनिष्ठ साधक थे। श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य महाराज द्वारा रचित चौदह ग्रंथों में से उन्होंने श्री मालारोहण, पंडित पूजा, कमल बत्तीसी, तारण तरण श्रावकाचार, त्रिभंगीसार और उपदेश शुद्ध सार ग्रंथ की टीकाएं कीं हैं। उनसे ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के सम्बन्ध में चर्चा हुई थी उस समय पूज्य महाराज जी ने कहा था कि ॐ नम: सिद्धम् मंत्र आध्यात्मिक मंत्र है।

पूज्य श्री ने बताया कि ॐ नम: सिद्धम् मंत्र अपने सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा का बोध कराने वाला मंत्र है। इस मंत्र का प्राचीनकाल से ही साधना-आराधना और शिक्षा के क्षेत्र में अप्रतिम प्रभाव रहा है। आज से लगभग ५०-६० वर्ष पहले तक विद्यालयों में 'ओनामासीधम' पढ़ाया जाता था, यह ॐ नम: सिद्धम् का ही विकृत रूप है।[१८]

इसी संदर्भ में अध्यात्म योगी पूज्य क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानंद महाराज ने प्रवचन में कहा था- ''ॐ नम: सिद्धम् बहुत प्राचीन मंत्र है और इससे भी आप अंदाजा लगा सकते हैं कि अति प्राचीन काल में व तब ही नहीं, किन्तु अब से करीब ५० वर्ष पहले जब अध्यापक लोग विद्यार्थियों को अध्ययन प्रारंभ कराते थे तब छोटे-छोटे बालकों को सबसे पहले ॐ नम: सिद्धम् पढ़ाते थे। यह मंत्र वे लिख नहीं सकते थे, किन्तु मुख से कहलवाने की परिपाटी थी और थोड़े ही अक्षर सीखने के बाद सबसे पहले ॐ नम: सिद्धम् लिखना सिखाते थे।[१९]

डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी ने ''प्राचीन भारत में शिक्षा'' नामक ग्रंथ में लिखा है कि बालक का विद्यारम्भ ॐ नम: सिद्धम् से होता था। बालक किसी जाति

---

१६. कला और संस्कृति सन् १९५२ इलाहाबाद प्रकाशन पृ. १९९.

17. Dr. Vimla Charan India as described in early texts of Budhism and Jainism Law. p. 287.

१८. पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज से चर्चा में प्राप्त सन् १९९१-९२.

१९. सिद्ध भक्ति प्रवचन, पू. क्षु. सहजानंद जी वर्णी, श्री सहजानंद शास्त्र माला मेरठ प्रकाशन सन् १९७६-पृष्ठ ४-५

अथवा सम्प्रदाय का हो, अक्षरारम्भ के प्रारंभ में ॐ नम: सिद्धम् कहना ही होता था, इससे बालक का लिखने पढ़ने में मंगल होगा, ऐसी सार्वभौम मान्यता थी।

डॉ. अनन्त सदाशिव अलतेकर ने एक लेख में लिखा है कि शिक्षा के प्रारंभ में बालक को ॐ नम: सिद्धम् कहना होता था। इस शिक्षा के संबंध में डॉ.अलतेकर ''प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति'' में लिखते हैं कि जैन साहित्य से प्रमाणित है कि प्राचीन भारत में शिक्षा अंतर्ज्योति और शांति का स्रोत मानी जाती थी, जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आर्थिक शक्तियों के संतुलित विकास से हमारे स्वभाव में परिवर्तन करती तथा उसे श्रेष्ठ बनाती है। इस प्रकार शिक्षा हमें इस योग्य बनाती है कि हम समाज में एक विनीत और उपयोगी नागरिक के रूप में रह सकें। यह अप्रत्यक्ष रूप से हमें इहलोक और परलोक दोनों में आत्मिक विकास में सहायता देती है।[२०]

सद्गुरु से ही वह विद्या और वह ज्ञान प्राप्त होता है जिससे शिष्य अध्यात्म की ओर अग्रसर होता हुआ अपने कल्याण में अग्रसर होता जाता है। महाकवि भर्तृहरि ने विद्या की विशेषता बताते हुए बहुत स्पष्ट लिखा है -

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति, धनाद् धर्म: तत: सुखम्॥
-नीति शतकम्

विद्या से विनय, विनय से सत्पात्रता, सत्पात्रता से धन, और अंत में धर्म और धर्म से सुख तथा आत्मा की चरम उपलब्धि अर्थात् मुक्ति का सुख प्राप्त होता है। ज्ञानहीन मानव पशु के समान है, वह शव है। ज्ञान से ही शव में शिवत्व अर्थात् चैतन्य और स्व-पर कल्याण के भाव जाग्रत होते हैं।

प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ एवं इतिहास वेत्ता डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने ''प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जैन शिक्षा'' में लिखा है- एक दिलचस्प बात यह है कि प्राय: दक्षिण भारत में और उत्तरी भारत के भी प्रदेशों में पुराने ढंग की पाठशालाओं में चाहे मुंडी हिन्दी या महाजनी की हों अथवा संस्कृत या हिन्दी की हों या गुजराती, मराठी, कन्नड़ आदि की हों, बालक का विद्यारम्भ ॐ नम: सिद्धम् से ही कराया जाता था, जिसका विकृत रूप अनेक स्थानों पर ''ओ ना मा सी ध म्'' बन गया है। यह पूर्णतया जैन मंगल वाक्य है। इस वाक्य का प्रयोग सिद्ध करता है कि देश के बहुभाग में सुदीर्घ काल तक लोक शिक्षा जैनों के हाथ में रही।[२१]

---

२०. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, डॉ. अनन्त सदाशिव अलतेकर १९५५ पृष्ठ-६

कलकत्ता में एक सेठ रहते थे, स्व. बाबू छोटेलाल जैन नाम था उनका, उन्होंने अपना पूरा जीवन जैन कला संस्कृति और समाज सेवा में लगाया। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि भारत के उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक जैन शिक्षा संस्थानों का जाल बिछा हुआ था, उनमें मात्र जैन ही नहीं, सभी जातियों के छात्र पढ़ते थे, उन सबकी वर्णमाला का प्रारंभ 'ॐ नम: सिद्धम्' से ही होता था।[२२]

'भारत में ब्रिटिश राज्य' के रचयिता पं. श्री सुन्दरलाल जी महाराज ने एक भाषण में कहा था कि औरंगजेब के समय में उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक जैन पाठशालाओं (प्रायमरी विद्यालयों) का जाल बिछा हुआ था। उनमें व्यापारिक और भाषा संबंधी शिक्षा अधिक दी जाती थी। एक बार औरंगजेब ने भारत के प्रतिष्ठित जैन बन्धुओं को बुलाकर कहा कि भाई, आप लोग हिन्दुस्तान की शिक्षा में इतना सहयोग कर रहे हैं, कुछ सहायता हमसे भी ले लो, किंतु उन्होंने विनम्रतापूर्वक इंकार कर दिया।

इन पाठशालाओं में सभी कौमो और वर्गों के छात्रों को निर्बाध प्रवेश मिलता था, उन्हें वर्णमाला के प्रारंभ में 'ॐ नम: सिद्धम्' का मंगल पाठ पढ़ना होता था। किसी को कोई आपत्ति नहीं थी,सब कुछ निरापद चलता था।[२३]

दक्षिण में हिन्दू छात्रों को बारहखड़ी के प्रारंभ में 'श्री गणेशाय नम:' के स्थान पर 'ॐ नम: सिद्धम्' पढ़ाया जाता था। राष्ट्रकूट समय से लेकर अभी तक यह सतत् लगातार चलता रहा। इस पर प्राकृत अपभ्रंश के प्रकाण्ड विद्वान वी.सी. वैद्य का कथन उल्लेखनीय है– 'मास एजूकेशन' जैनों के द्वारा नियंत्रित थी। बारहखड़ी के प्रारंभ में उनका ॐ नम: सिद्धम् सर्वमान्य और सार्वभौम था, जैन की गिरती दशा में भी वह सर्व जन में प्रचलित रहा। इससे जैन शिक्षा का महत्व स्वत: ही अंकित हो जाता है। [२४]

मध्यप्रदेश के सिवनी नगर निवासी स्व. पं. श्री सुमेरचंद दिवाकर प्रकाण्ड विद्वत्ता के धनी थे, उन्होंने 'जैन शासन' नामक कृति में लिखा है–

उत्कल उड़ीसा प्रान्त के पुरी जिले के अंतर्गत उदयगिरि– खण्डगिरि के

२१. 'प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जैन शिक्षा' डॉ. ज्योति प्रसाद जैन द्वारा लिखित निबंध, वीर विशेषांक वर्ष ३६ अंक १८–१९, पृष्ठ १९

२२. वही, पृष्ठ १३०

२३. ओ ना मा सी ध म्– डा. प्रेमसागर जैन, प्रास्ताविकम् पृ. १, कुन्दकुन्द भारती नई दिल्ली प्रकाशन १९८९

२४. राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृष्ठ– ३०९, ३१०

जैन मंदिर का हाथी गुफा वाला शिलालेख जैन धर्म की प्राचीनता की दृष्टि से असाधारण है। उस लेख में 'नमो अरहंतानं, नमो सबसिद्धानं' आदि वाक्य उसे जैन प्रमाणित करते हैं। यह ज्ञातव्य है कि शिलालेख में आगत 'नमो सब सिद्धानं' वाक्य आज भी उड़ीसा प्रान्त में वर्णमाला शिक्षण प्रारंभ कराते समय 'सिद्धिरस्तु' के रूप में पढ़ा जाता है। तेलगू भाषा में 'ॐ नम: शिवाय' 'सिद्धम् नम:' वाक्य इस अवसर पर पढ़ा जाता है। महाराष्ट्र प्रांत में भी ॐ नम: सिद्धेभ्य: पढ़ा जाता है। हिन्दी पाठशालाओं में जो पहले 'ओ ना मा सी ध म्' पढ़ाया जाता था, वह 'ॐ नम: सिद्धम्' का ही परिवर्तित रूप है। इससे भिन्न–भिन्न प्रांतीय भाषाओं पर अत्यंत प्राचीन कालीन जैन प्रभाव का सद्भाव सूचित होता है।[२५]

इस संदर्भ में महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन का यह कथन महत्वपूर्ण है–

''ओ ना मा सी ध म्'' वस्तुत: 'ॐ नम: सिद्धम्' का विकृत उच्चारण है। पीछे कहीं–कहीं इसकी जगह ही कई स्थानों पर रामागति–देहूमति का प्रयोग होने लगा। कहीं–कहीं 'श्री गणेशाय नम:' से भी अक्षरारम्भ कराया जाता रहा। सिद्धम् में एक वचन का प्रयोग है, वह चौरासी सिद्धों के लिये नहीं है अन्यथा बहुवचन का प्रयोग होता। सत्य यह है कि 'ॐ नम: सिद्धम्' ब्राह्मणों का प्रयोग नहीं है। ब्राह्मणों के त्रिदेवों को सिद्ध नहीं कहा जाता। बौद्ध और जैन ही अपने सम्प्रदाय प्रवर्तक को सिद्ध कहते हैं, इसलिये ओ ना मा सी ध म् का इतना व्यापक प्रयोग श्रमणधर्म के प्रभाव की व्यापकता को बताता है। जिन सिद्धों और साहित्य के बारे में हम कहते आ रहे है, उनका आविर्भाव सिद्ध शब्द के प्रयोग के बाद हुआ।[२६]

'ॐ नम: सिद्धम्' का मूल था 'कातंत्र व्याकरण'। ऐसा माना जाता है कि श्री शर्ववर्मा इसके रचियता नहीं, अपितु संकलयिता थे। यह ग्रन्थ समय–समय पर 'कलाप' अर्थात् मयूर पिच्छि धारी साधुओं के द्वारा रचा जाता रहा, इसी कारण इसका नाम कलाप पड़ा। इसका पहला सूत्र है–**''सिद्धो वर्ण समाम्नाय:''**। यहाँ से ही 'ॐ नम: सिद्धम्' नमस्कारात्मक मंगल वचन प्रारम्भ हुआ। 'कातंत्र व्याकरण विमर्श' की प्रस्तावना में डा. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है, **'किंचकलापापदपयांस्य कातंत्र व्याकरण स्यादावन्ते च जैन परम्परायाम् 'ॐ नम: सिद्धम्' इति नमस्कारात्मकं मंगलं बहुषु हस्तलेखेषु**

२५. जैन शासन, पं सुमेरचंद दिवाकर, पृष्ठ– २९४

२६. बौद्ध सिद्ध साहित्य, महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन, सम्मेलन पत्रिका, भाग–५१, शक संवत् १८८७, पृष्ठ– ४

दृश्यते ।'[२७]

'कातंत्र व्याकरण' एक प्राचीन रचना है। इसके रचयिता श्रीमद् शर्ववर्मा सात वाहन राजाओं की सातवीं पीढ़ी के सम्राट हाल की राज संसद के सांसद थे। गुणाढ्य भी संसद में रहते थे, यह दोनों प्राकृत प्रिय, प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। शर्ववर्मा ने महाराजा सम्राट हाल को कातंत्र व्याकरण पढ़ाया था, उसी समय से कातंत्र का प्रचार हुआ। सम्राट हाल का समय ईसा की पहली शती के २०–२४ वें वर्षों में माना जाता है अर्थात् हाल का समय २०–२४ खीस्ताब्द निश्चित था। इस प्रकार शर्ववर्मा, महाभाष्यकार पतंजलि से परवर्ती थे। पतंजलि पुष्यमित्र के समकालिक थे, जो ईसा से दो शती पूर्व हुए थे।[२८]

आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि शर्ववर्मा कातंत्र व्याकरण के रचयिता नहीं बल्कि संग्राहक थे। उन्होंने अनेक व्याकरण ग्रंथों का संग्रह कर कातंत्र व्याकरण की रचना की थी। उन्होंने लिखा है–'ब्रह्मत्तंत्रात् कला आपिबतीति कलापक: शास्त्रम्' कलाप शब्द का एक अर्थ संग्रह है। अत: यह एक संग्रह व्याकरण है। कलाप का दूसरा अर्थ मयूर पिच्छ है। मयूर पंख के अनेक गुच्छों को जोड़कर मयूर पिच्छी बनाई जाती है,उसको ही कलाप कहते हैं। दिगम्बर जैन श्रमण (साधु) मयूर पिच्छ के कलाप से बनी पिच्छी रखते ही हैं। त्रिविष्टपीय परम्परा से स्पष्ट है कि मयूर पिच्छों के मध्य से कातंत्र का उपदेश समुद्भूत हुआ था अर्थात् मयूर पिच्छधारी जैन साधुओं ने समय–समय पर व्याकरण के सम्बन्ध में जो उपदेश दिए उनका संकलन ही कातंत्र कहलाया। कातंत्र रूपमाला की प्रक्रिया में शर्ववर्मा स्वयं लिखते हैं–

''कलापो मयूरपिच्छ: मयूरपिच्छानां मध्याद् उपदेशोऽस्य समजनि कातंत्रस्येति त्रिपिष्टवीय परम्परा जैना: साधवो मयूर पिच्छं कलापं धारयन्ति व्यवधान पूर्वकं चोपदिशन्ति।''[२९]

इससे स्पष्ट है कि श्रमण जैन साधुओं के मध्य से समय–समय पर दिए गए उपदेशों से कातंत्र व्याकरण की रचना हुई। उसके रचयिता एक नहीं, दो नहीं, अनेकों जैन साधु थे। श्री शर्ववर्मा ने उनका संग्रह, संकलन किया और यह व्याकरण भारत के प्राय: प्रत्येक प्रदेश में लोकप्रिय हुआ।

२७. कातंत्र व्याकरण विमर्श, डा. जानकी प्रसाद द्विवेदी विरचित, डा. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी वागीश द्वारा संपादित, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित– सन्– १९७५

२८. कातंत्र रूपमाला प्रक्रिया, भूमिका, पृ. ११

२९. कातंत्र व्याकरण विमर्श, प्रास्ताविकम्, पृष्ठ ई।

कातंत्र व्याकरण के चतुर्दिक प्रचार और लोकप्रियता का प्रमाण डा. प्रेमसागर जैन के इस कथन से स्पष्ट होता है,उन्होंने लिखा है– '' राजस्थान में हेम व्याकरण के पूर्व कातंत्र व्याकरण पढ़ाया जाता था। काश्मीर, बंग, गुर्जर, उत्कल आदि प्रदेशों में भी इसका प्रचलन था। वहां बालकों को कातंत्र की शिक्षा देने के लिए प्रदेशानुरूप लिपि और अक्षरों का प्रयोग कर छोटी–छोटी पुस्तकों के रूप में ढाल लिया गया था। श्री मालवंशीय संग्राम सिंह की रचना बाल शिक्षारूप लघु व्याकरण और क्षीर स्वामी की क्षीर तरंगिणी कातंत्र के वृत्तिकार दुर्गसिंह और टीकाकार रामनाथ की ताड़पत्र पर लिखी हस्तलिखित प्रतियां अभी तक वहां उपलब्ध हैं और सभी काश्मीर वासी उनका आदर करते हैं। उसमें लिपि और अक्षर उनके अपने हैं। इस प्रकार अन्य व्याकरण के पूर्व सब जगह कातंत्र व्याकरण ही चलता था। कातंत्र व्याकरण का आदि और अन्त 'ॐ नम: सिद्धम्' के मंगल नमस्कार से हुआ है। बालकों के शिक्षण के लिये इसके जितने संक्षिप्त संस्करण,जितने प्रदेशों में बने, सभी के आदि अंत में 'ॐ नम: सिद्धम्' दिया गया है। इस नमस्कार मंत्र से सभी का मंगल होता है ऐसा सभी प्रदेशों के रहने वाले हिंदू या श्रमण जैन मानते थे। बालक उसी से विद्यारम्भ करते थे और सफल होते थे।[३०]

मध्य एशिया की खुदाई में प्राचीन कूचा नामक स्थान का पता लगा है, वहाँ अनेक बौद्ध मठों के अवशेष मिले हैं, उनमें प्राप्त साहित्य से विदित हुआ है कि उस समय वहाँ पर भी कातंत्र व्याकरण का उपयोग किया जाता था। वहाँ कातंत्र को 'सिद्ध व्याकरण' कहा जाता था, इसलिये कि 'ॐ नम: सिद्धम्' के प्रतीक सिद्धो वर्ण समाम्नाय: से इसका प्रारंभ होता है।[३१]

कातंत्र व्याकरण के प्रचार का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा, इसका भारत में ही नहीं, भारत से बाहर भी कातंत्र का आधार बना हुआ है। इस संदर्भ में काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका का यह अंश महत्वपूर्ण है– चीनी यात्री ईत्सिंग के, सि–तन–चांग अथवा 'सिद्ध ग्रंथ' का नाम कातंत्र व्याकरण के 'सिद्धो वर्ण समाम्नाय: के आधार पर रखा गया। इसका नाम 'सिद्ध ग्रंथ' अथवा 'सिद्ध रचना' है। कीलहार्न और बूलर ने इसे भारतीय वर्णमाला का ग्रंथ कहा है।

एक दूसरे चीनी यात्री यूनचांग ने इसी संदर्भ में 'शी–एर्ह–चांग', शब्द का प्रयोग किया है, इसको संस्कृत में द्वादश भाग और हिन्दी में द्वादशाक्षरी या बारहखड़ी कहते हैं। यूनचांग ने लिखा है कि बालकों को सर्व प्रथम बारहखड़ी ही सिखाई जाती थी। कातंत्र के 'सिद्धो वर्ण समाम्नाय:' में सिद्ध शब्द के कारण

३०. ओ ना मा सी ध म, डॉ. प्रेमसागर, पृ. ६, २४ कुंदकुंद भारती प्रकाशन–१९८९

३१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५१ अंक २ पृष्ठ ७०

शी–एर्ह–चांग का दूसरा नाम 'सिद्धिरस्तु' या 'सिद्ध वस्तु' है।

ईत्सिंग के सि–तन–चांग और यूनचांग के 'शी–एर्ह–चांग' दोनों ग्रंथ एक ही अर्थ बारह खड़ी के घोतक हैं। चीनी लेखक के द्वारा लिखी गई यह 'सिद्धिरस्तु' रचना अब चीन में भले ही न मिलती हो किन्तु जापान में अब तक इसका प्रचार है। इन दोनों ग्रंथों में 'ॐ नम: सिद्धम्' का उल्लेख किया गया है।[३२]

विशेष बात यह है बारहखड़ी से संबंधित दो जापानी ग्रंथ पहला 'सिद्ध पिटक 'या' सिद्ध कोश' है इसकी रचना सन् ८८० में हुई थी तथा दूसरा 'सिद्ध के अठारह प्रकरण'इसका रचना काल सन् १५५६ है, इन ग्रंथों के प्रारंभ में 'ॐ नम: सिद्धम्' लिखकर १६ स्वर और ३५ व्यंजन बताये गये हैं।[३३]

प्रसिद्ध जार्ज व्हूलर का कथन है कि बारहखड़ी का प्रारंभ 'ॐ नम: सिद्धम्' से होता था और इस मंगल पाठ के कारण ही बारहखड़ी को सिद्धाक्षर समाम्नाय या सिद्ध मातृका भी कहते हैं। इसकी प्राचीनता का प्रमाण हुई–लिन (७८८–८१० ईस्वी) से भी मिलता है। उसने 'ॐ नम: सिद्धम्' इस मंगल पाठ को १२ में पहली फाड़ या चक्र (युवाङच्वाङ के १२ चाङ) कहा है, उस काल में हिन्दू लड़के इसी से विद्यारम्भ करते थे।[३४]

विदेशी पर्यटक मेगस्थनीज और चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारतीय वर्णमाला के संबंध में 'सिद्ध मातृका' का उल्लेख किया है। चीन का प्रसिद्ध विश्वकोश 'फांवान–शू–लिन' दुनियां भर में प्रसिद्ध है। उसमें भी ब्राह्मी लिपि, बारहखड़ी और ' ॐ नम: सिद्धम्' की बात लिखी मिलती है।[३५]

बुन्देलखंड में पांच पाटियों के अध्ययन–अध्यापन का नियम था। पांच वर्ष का बालक इन्हें ओ ना मा सी ध म (ॐ नम: सिद्धम्) से सीखना प्रारंभ करता था। पांच पाटियां कातंत्र की पंच संधियों का रूपान्तरण है और कुछ नहीं।[३६]

'ॐ नम: सिद्धम्' से प्रारंभ होने वाला यह पाटी का प्रसंग यहाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कातंत्र व्याकरण की पंच संधियों के रूपान्तरण स्वरूप उक्त स्थान पर पांच पाटी प्राप्त नहीं हैं, किन्तु एक अन्य स्थान पर इन्हें चार पाटी के रूप में प्रस्तुत किया है, इस संबंध में ''ओ ना मा सी ध म् बाप पढ़े न हम'' नामक लेख

३२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५१ अंक १, पृ. ३२–३५

३३. वही, पृष्ठ ३६.

३४. भारतीय पुरालिपि शास्त्र, जार्ज व्हूलर, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली सन् १९६६ पृष्ठ ६

३५. विश्वकोश, फांवान–शू–लिन, तथा ह्वेनसांग का यात्रा विवरण

३६. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५१ अंक २ पृष्ठ ६८–६९

में महेश कुमार मिश्र के विचार पठनीय हैं–

''कातंत्र व्याकरण, पाणिनीय सम्प्रदाय से भिन्न है और शर्व वर्मा की रचना कहा जाता है। कातंत्र व्याकरण के प्रथम अध्याय के पहले चारों 'पाद' '' इन चारों पाटियों से काफी कुछ मेल खाते हैं।''[३७]

''पाटी'' के साथ–साथ पाटी पढ़ना, चारों पाटियां, लेखे, चरनाइके, ओलम आदि ऐसे शब्द हैं जो सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करते हुए, यह सब समझने की जिज्ञासा को जाग्रत करते हैं।

ओ ना मा सी ध म् अर्थात् ॐ नम: सिद्धम् से प्रारंभ होने वाली यह शिक्षा भारतीय जन मानस के जीवन को व्यवस्थित और धर्ममय बनाने का आधार रही है। लोक व्यवहार में भी पाटी के साथ लेखे, चरनाइके, ओलम आदि को जानने वाला बुद्धिमान के साथ–साथ शिष्टाचार के आचरण को पालने वाला सुसंस्कृत सभ्य व्यक्ति माना जाता था। उत्तरी भारत के हिन्दी भाषी क्षेत्रों के वे वृद्धजन जिनकी प्राथमिक शिक्षा–दीक्षा कभी ग्रामीण अंचलों में हुई थी, उन्हें यह वाक्य कहते हुए सुना जाता है –

– ओ ना मा सी ध म : बाप बढ़े न हम।

– हां मैं सब समझ गया। तुम जरूर किसी से 'पाटी पढ़कर' आये हो।

– उसकी क्या बात करते हो ? वह ''चारों पाटी'' पढ़ा है।

– आज की पढ़ाई किस काम की ? विद्यार्थी सही हिसाब तक तो कर नहीं सकते। हमारे जमाने के लोग, जिन्होंने 'पाटियां' और 'लेखे' पढ़े हैं, आज के बी. ए., एम. ए. पास के भी कान काटते हैं।

– आजकल के लड़कों में जरा भी शिष्टाचार नहीं, जब उन्होंने 'चरनाइके' ही नहीं पढ़े हैं, तो उन्हें शिष्टाचार का ज्ञान ही कहां से होगा ?

– यह लड़का तो 'ओलम' से ही ऐसा है।

उपरोक्त बातों से यह उत्सुकता जाग्रत होती है कि आखिर १. पाटी २. पाटी पढ़ना ३. चारों पाटियां ४. लेखे ५. चरनाइके और ६. ओलम इत्यादि क्या है ? और 'ओ ना मा सी ध म्' क्या है जिसका संक्षिप्त रूप 'ओ ना मा सी' हिन्दी के शब्द कोशों में भी मिल जाता है।

''ओ ना मा सी ध म् '' शब्द संस्कृत भाषा के प्राचीनतम वैयाकरण महर्षि शाकटायन के व्याकरण का प्रथम सूत्र– 'ओऽम् नम: सिद्धम्' है।

पुराने जमाने में बालक को विद्यारंभ कराते समय सबसे पहले इसी सूत्र की

३७. ओ ना मा सी ध म्: बाप पढ़े न हम, महेश कुमार मिश्र ' मधुकर' दतिया द्वारा लिखित लेख, कादम्बिनी दिसंबर १९८३ पृष्ठ–१११

शिक्षा दी जाती थी। इसके बाद ही वर्णमाला का नंबर आता था। प्रारंभिक शिक्षा का आदि सूत्र होने के कारण कालांतर में यह शब्द विद्यारंभ का पर्यायवाची बन गया और अपभ्रष्ट रूप में लोग इसे 'ओ ना मा सी ध म' या 'ओ ना मा सी' कहने लगे कालांतर में इसका प्रयोग व्यंग्यार्थ में होने लगा। जो बालक किसी भी कारण से पढ़ नहीं पाते, वे कहने लगते– ' ओ ना मा सी धम –बाप पढ़े न हम'। [३८]

'ओ ना मा सी ध म' अर्थात् 'ॐ नमः सिद्धम्' से प्रारंभ करके लौकिक विद्या सिखाने से पूर्व बच्चों के संस्कारों में अध्यात्म विद्या का बीजारोपण किया जाता था क्योंकि अध्यात्म विद्या ही व्यक्ति को सच्चे मार्ग पर लगाती है और 'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयम् आत्मा ब्रह्म' यह बोध होना ही समूची शिक्षा का सार है।

जैन दर्शन का अध्यात्म या वैदिक संस्कृति का सार तथा अन्य सभी दर्शन, मत, पंथ और धर्म गुरु यही कह रहे हैं कि अपने स्वरूप को जानना ही संपूर्ण विद्या का प्रयोजन है। यदि अपने को जान लिया तो सभी शिक्षा कार्यकारी है और अपने को नहीं जाना तो सारा ज्ञान कुज्ञान कहलाता है, यही अविद्या है। कहीं कुज्ञान ही अंधकार के रूप में अंतर में न छाया रहे यही कारण है कि बचपन से ही सर्वप्रथम 'सिद्धम्' का बोध कराया जाता रहा है, तत्पश्चात् पाटी आदि की शिक्षा दी जाती रही जिससे संपूर्ण शिक्षा अध्यात्म का रूप धारण कर ले, और यह अनुभव भी किया गया, देखा गया कि उस प्राचीन शिक्षा में जो मंत्र के मंगल स्मरण सहित होती थी, उसका परिणाम व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उन्नत रहा।

'पाटी' शब्द किसी विषय की विधिवत् शिक्षा या पाठ के अनुक्रम के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह संस्कृत भाषा का स्त्रीलिंग शब्द है। इसका निकटतम पर्याय 'परिपाटी' माना जा सकता है। ज्योतिर्विद एवं गणितज्ञ भास्कराचार्य ने अपने ग्रंथ 'लीलावती' को 'पाटी गणित' के रूप में ही संबोधित किया है। स्पष्ट है कि पाटी शब्द भाषा और गणित के प्रारंभिक पाठों के लिए प्रयुक्त होता था। जैसी कि धारणा प्रचलित है कि लकड़ी की काली तख्तियों के कारण पाटी शब्द प्रचार में आया यह धारणा भ्रमपूर्ण है। हां, यह संभव है कि बालकों से 'पाटियां' लकड़ी की तख्तियों पर ही लिखवाई जाती थीं, इस कारण तख्तियां ही 'पाटी' बन गई।

'पाटी' या 'पाटियां' जिनका संबंध मात्र भाषा ज्ञान से है, वे संख्या में केवल चार हैं इसलिए 'चारों पाटी' शब्द प्रचलन में आया है।

---

३८. वही, पृष्ठ १०८

वे 'चार पाटियां' इस प्रकार हैं –

पहली पाटी

ओ ना मा सी धं ॥ अ आ इ ई उ ऊ ॥ रे रै ले लै ऐ ऐ ॥ ओ आ ऊ अं गा हा ॥ का खा गा घं ना ॥ चा छा जा झं ना ॥ टा ठा डा ढं ना ॥ ता था दा धं ना ॥ पा फा वा भं मा ॥ जा रा ला वा ॥ सं षे सा हा लं छे ॥ सिद्धो वरना ॥ समामनाया ॥ चत्रो चत्रोदासा ॥ दाऊ सोरो ॥ दसैं समाना ॥ तेषं दुत्या वरनो ॥ निसि निसि बरनो ॥ पूरभोरस्या ॥ पारो दुरगा ॥ सारो बरना ॥ बरजो नामी ॥ इिकरादैनी ॥ संधि करानी ॥ कादैनी विंज्यानामी ॥ तेवर कौ पंचीपंचा ॥ बरगानामी ॥ परथम दुत्या ॥ सकुचांहेचां ॥ घोषाघोषुपतोर नो ॥ अनुनासीषा ॥ नैगरनामा ॥ अंतूस्थां जारा लावा ॥ ऊषमान सकुचॉ हॉ ॥ आ ई ती विसारोजन्या ॥ अषै ई ती जम्यामोल्या ॥ पफइीती पद्मान्या ॥ अनंतन सोर ॥ पूरभोपलीरथो ॥ पाला है पाली पदं ॥ विंज्यानामीसुरं पूरं ॥ बरनऐनै तूं ॥ अनंत कर मैलं ॥ विसलैंषजैत ॥ लिषौपंचोरा ॥ दुरगन संधी ॥ एती संधी सूतरता ॥ परथम संधि समापता ॥

दूसरी पाटी

समानिस बरनो ॥ दुरगमवंती ॥ प्रहास लोपे ॥ आबरन ई बरनैयो ॥ ऐवरनै ऐ ॥ ओ बरनै वो ॥ री बरनै आलू ॥ ती बरनै कालू ॥ ऐकारे ऐकारे चा ॥ ओकारे ओकारे चा ॥ ऐबरनै जिम्मिसबरनै ॥ निचपर लुप्या ॥ बंभू बरना ॥ रिंव्विर बरना ॥ लिंम्मिर बरना ॥ ऐजै आजू ॥ वो वै आवू ॥ आधीमान जमाना लोपे ॥ पाल पदन्ते ॥ नामा लोपे ॥ इिसिविरि करते ॥ लुकंभकारे ॥ ना विंजाने ॥ सुरान संधी ॥ एतौ संधौ सूतरता ॥ दुरती संधि समापता ॥

तीसरी पाटी

ओदंता अनि अनि पंता ॥ सिरविर करता ॥ दूरवचनामीनौं ॥ गुरबच नामी नौं ॥ वौहवचनामीनौं ॥ आन मान पतिस्टॉ चा ॥ ऐती संधौ सूतरता ॥ तिरती संधि समापता ॥

चौथी पाटी

बरग परथमा पूजंते ॥ सोरा घोषा बातासू ॥ आंनतिरथिया आंनं ॥ पंचै पंचैभ्यामं ॥ सोरतिरथिया अतनेवा ॥ बरग परथमा ॥ भऐ सुषारी लेवा ॥ सोर जोर पिचकारी नेवा ॥ त्रभू आऐ कालं ॥ पारा रूपं ॥ जगत सरूपं ॥ टंकारे लाचट वरगेषु ॥ चनुछे अंनुना ॥ पनुफेगनुना ॥ रसो पढ़ाया ॥ जसो पढ़ाया ॥ सोरं देवी लेवंता ॥ तथेसुकारे ॥ पफेसुकारे ॥ लीलं झाझं झझन सुकारे ॥ षुन गए षरग सनीचरु वारे ॥ डिढंपुलिस्टं कारेषु ॥ मौन समारे विंजाने ॥ बरगा सु बरगा ॥ पंच महुरवा ॥ एती संधौ सूतरता ॥ चतुरती संधि समापता ॥

नोट –(उपर्युक्त पाटियों में इ् को इ, ई को ई और ष को ख पढ़ा जाता है।)

तो, यह थीं वे 'चारों पाटियां' जिनको लेकर 'पाटी पढ़ाना' मुहावरा प्रचलित हुआ। यह पाटियां गूढ़ार्थ थीं, इनका अर्थ कोई नहीं बता पाता। पहले यह पाटियां पढ़ाई जाती थीं, लेकिन ब्रिटिश शासन में उनकी शिक्षा पद्धति के साथ इन पाटियों की पढ़ाई बंद हो गई। इनको पढ़ाने वाले 'पांडे' केवल ग्रामीण क्षेत्रों में ही रह गए। संस्कृत के विद्वान, विशेषकर पाणिनीय व्याकरण के अध्येता तो पहले से ही इन पाटियों से नफरत (?) करते थे, अन्य शिक्षित वर्ग भी इनसे परहेज करने लगा। कारण स्पष्ट था कि यह इतनी दुर्बोध थीं कि इनकी पढ़ाई का औचित्य ही समझ में नहीं आता था। आज स्थिति यह है कि आज यह पाटियां मात्र बुंदेलखंड के ही कुछ क्षेत्रों में सीमित होकर रह गई हैं।

''यह पाटियां निरर्थक सी प्रतीत होते हुए भी निरर्थक नहीं हैं। इनके तात्पर्य और भावार्थ का कुछ–कुछ अनुमान 'कातंत्र व्याकरण' से लगाया जा सकता है। कातंत्र व्याकरण, व्याकरण के पाणिनीय संप्रदाय से भिन्न है और शर्ववर्मा की रचना कहा जाता है। कातंत्र व्याकरण के प्रथम अध्याय के पहले चारों 'पाद' इन चारों पाटियों से काफी कुछ मेल खाते हैं। [३९]

'ओ ना मा सी धम ' से प्रारंभ होने वाली इन पाटियों के साथ–साथ लेखे और चरनाइके भी पढ़ाने की परंपरा रही है।

'लेखे' संख्या में तेरह माने जाते हैं। इनका प्रचार किसी न किसी रूप में आज भी है। इनके नाम हैं– १. गिनती २. पहाड़े ३. पौआ ४. अद्धा ५. पौना ६. सवैया ७. ढैया ८. हूंठा ९. ढौंचा १०. पौंचा ११. कौंचा १२. बड़ा इकन्ना १३. विकट पहाड़ा १४. ड्योढ़ा। इनमें से अब 'कौंचा' का प्रचार नहीं रहा है इसलिए इसे हटाकर कुल तेरह ही लेखे हैं। 'चरनाइके' वस्तुत: नीति और शिष्टाचार संबंधी वाक्य होते हैं। इनके द्वारा आचार–विचार की शिक्षा प्राप्त होती है। मान्यता है कि इनकी रचना चाणक्य सूत्रों के आधार पर हुई है।

''चारों पाटी के पाठन विधि के संबंध में दतिया नगर की ९० वर्षीया वयोवृद्ध महिला श्रीमती रामकुंअर पुरोहित बतलाती हैं कि पाटियों को हाथ पर ताल देते हुए गा–गाकर पढ़ाया जाता था। प्रत्येक सूत्र के प्रथम अक्षर पर ताल देते हुए तालों के मध्य लगभग आठ मात्रा काल का अंतर रखा जाता था। ताल के बाद प्रत्येक पांचवीं मात्रा पर दांयी हथेली ऊपर की ओर करके 'खाली' प्रदर्शित की जाती थी। [४०]

३९. महेश कुमार मिश्र 'मधुकर' कादम्बिनी दिसंबर १९८३, पृष्ठ १११
४०. वही, पृष्ठ– ११३

तात्पर्य यह है कि पाटी पढ़ने में संगीत के 'कहरवा' ताल का उपयोग किया जाता था। किसी कठिन तथा नीरस विषय को बालकों को याद कराने का यह सर्वोत्तम तरीका था। इससे बालकों को भारतीय वांङ्मय में प्रयुक्त होने वाले संपूर्ण स्वर और व्यंजनों का ज्ञान हो जाता था, साथ ही, स्वरों के मूल स्वर, समान स्वर, सवर्ण स्वर, ह्रस्व–दीर्घ और प्लुत भेदों, व्यंजनों के पांच वर्गों– अनुनासिक जिव्हामूलीय, विसर्जनीय, उपध्मानीय और ऊष्माण आदि वर्णों (अक्षरों) तथा दो अक्षरों के मेल से बनने वाले नवीन अक्षरों एवं व्याकरण संबंधी प्रारंभिक नियमों का ज्ञान हो जाता था। तेरह लेखे भली–भांति कंठस्थ होने पर कठिन से कठिन हिसाब–किताब में भी माथा पच्ची नहीं करना पड़ती थी। इसी प्रकार 'चरनाइके' बालकों के मन में शिष्टाचार नीति और सद्व्यवहार के संस्कारों का बीजारोपण करते थे। इस संपूर्ण शिक्षा का मूल आधार ॐ नम: सिद्धम् मंत्र था।

यदि आज भी इन्हें शोधित, संपादित और सरलीकृत करके उपयोग में लाया जाये तो भारतीय शिक्षा में अत्यधिक संबल प्राप्त होगा, इससे प्राथमिक शिक्षा में जो कमजोरी आ रही है, उसे दूर किया जा सकता है। जिस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में 'ॐ नम: सिद्धम्' की प्राचीनता स्वत: सिद्ध है, इसी प्रकार व्याकरण विभाग में यह मंगल वाक्य अग्रणी रहा है। कातंत्र व्याकरण के संबंध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस व्याकरण का आदि और अंत 'ॐ नम: सिद्धं ' के मंगल नमस्कार से हुआ है। [४१]

व्याकरण ग्रंथों के संदर्भ में 'स्वयंभू व्याकरण' का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का ही दूसरा नाम स्वयंभू है। वह इसलिए कि आसमुद्रान्त पृथ्वी को बिना किसी सहारे के स्वयं अकेले अपनी प्रतिभा से सम्हाला। उस समय पृथ्वी भोगभूमि से हटकर कर्मभूमि के रूप में परिवर्तित हो रही थी। उन्होंने प्रजा को कर्मभूमि में रहकर जीवन चलाने के लिए षट् आवश्यक कर्मों की शिक्षा दी। उन्होंने सबसे पहले लिखना पढ़ना सिखाया। अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को लिपि विद्या दी, तो सुन्दरी को गणित में निष्णात किया। अपने पुत्रों को बहत्तर कलाओं में दक्ष बनाया। लिपि के साथ भाषा और भाषा के साथ व्याकरण जुड़ा ही होता है। जब वह सभी विद्याओं के आदि शिक्षक थे तो कैसे संभव है कि उन्होंने व्याकरण की शिक्षा न दी हो। उनके द्वारा दिया गया व्याकरण ज्ञान स्वयंभू व्याकरण के नाम से प्रचलित हुआ। [४२]

४१. डा. प्रेमसागर, ओ ना मा सी धम, पृष्ठ २४, सन् १९८९
४२. वही, पृष्ठ – २५

इसी संदर्भ में आर्यिका ज्ञानमती जी ने लिखा है–''हे पुत्रियो ! तुम दोनों अब विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो, क्योंकि तुम दोनों की यही विद्या ग्रहण करने की उम्र है। तीर्थंकर ऋषभदेव ऐसा कहकर बार–बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्त में स्थित श्रुत देवता को आदरपूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित करते हैं, पुन: 'सिद्धम् नम:' इस मंगलाचरण रूप मंत्र का उच्चारण कर पुत्रियों से उच्चारण कराकर अपने दाहिने हाथ से दाईं ओर बैठी हुई पुत्री (ब्राह्मी) को ''अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, क, ख, ग, घ, ङ,च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प,फ, ब,भ, म, य ,र, ल, व, श, ष, स, ह, अनुस्वार अं, विसर्ग अ: जिव्हामूलीय और उपध्मानीय इन चार अक्षरावली को लिखाते हैं और बाएं हाथ से अपने बाईं ओर बैठी हुई पुत्री (सुन्दरी) को इकाई ,दहाई, आदि स्थानों के क्रम से १,२,३ आदि संख्या रूप गणित लिखाते हैं। वे दोनों कन्याएं पूज्य पिता ऋषभदेव के मुख से इन सिद्ध मातृका रूप अक्षर लिपि और गणित को अच्छी तरह से समझकर हृदय में धारण कर लेती हैं। उस समय स्वयंभू ऋषभदेव का बनाया हुआ एक बड़ा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था। उसमें सौ से भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्र के समान अत्यंत गंभीर था। [४३]

इसी प्रकार का उल्लेख उन्होंने जैन भारती ग्रंथ में भी करते हुए लिखा है कि व्याकरण शास्त्र, छंद शास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनों के समूह को वाङ्मय कहते हैं। भगवान के द्वारा बनाया गया व्याकरण शास्त्र बहुत विस्तृत था जिसमें सौ से अधिक अध्याय थे। [४४]

इसी व्याकरण के संबंध में 'बृहज्जैन शब्दार्णव' के मुख्य संपादक द्वारा लिखित अंश दृष्टव्य है–'श्री ऋषभदेव स्वयंभू भगवान ने जिस स्वायम्भुव व्याकरण की सर्वप्रथम रचना की उसके आदि में 'ॐ नम: सिद्धम्' लिखकर अक्षरावली का प्रारंभ किया था। यही अक्षरावली श्रुतज्ञान या शास्त्र सिद्ध करने का मूल मंत्र है। इसे 'सिद्ध मातृका' भी कहते हैं। [४५]

स्पष्ट है कि अक्षरावली अथवा वर्ण समाम्नाय 'ॐ नम: सिद्धम्' कहकर

४३. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव स्मारिका १९९८, दि. जैन मंदिर पाकेट–१, मयूर विहार फेज–१, दिल्ली से प्रकाशित, पृ. २०–२१

४४. जैन भारती, दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर से प्रकाशित, पृ, ६१, वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला का ४८ वां पुष्प, सन् १९८२

४५. वृहज्जैन शब्दार्णव, प्रथम भाग, वी एल जैन चैतन्य, देशबंधु प्रेस बाराबंकी में मुद्रित पृ. ३८, स्वल्पार्थ ज्ञान रत्नमाला का द्वितीय पुष्प

प्रारंभ किया जाता था। ग्रंथों में एक स्वयंभू नाम के महाकवि का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जो संस्कृत व्याकरण के तलस्पर्शी ज्ञाता थे। पं. श्री नाथूराम प्रेमी के अनुसार उनका समय वि. सं. ७३४ से ८४० के बीच माना जाना चाहिए। [४६]

इन कवि स्वयंभू ने जिस वर्ण समाम्नाय को अपने उपमानों में कहा है उसका प्रारंभ भी 'ॐ नम: सिद्धम्' से ही हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि भगवान स्वयंभू ऋषभदेव का व्याकरण उस समय विद्यमान रहा होगा जिससे महाकवि स्वयंभू ने व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया होगा, यह संभव है, क्योंकि उस समय श्रुत की ऐसी परंपरा थी। जैन व्याकरण साहित्य में दो ग्रंथ अत्यधिक प्राचीन हैं और प्रसिद्ध भी हैं– जैनेन्द्र व्याकरण और शाकटायन व्याकरण। जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद थे। यह ऐन्द्र परंपरा का प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है। पं. नाथूराम प्रेमी ने ''जैन साहित्य और इतिहास'' में लिखा है कि आचार्य समन्तभद्र और देवनन्दि पूज्यपाद छटवीं शताब्दी में हुए थे और समकालीन थे। [४७]

यद्यपि इस ग्रंथ का प्रारंभ तीर्थंकर महावीर के नाम स्मरण से हुआ है, किंतु इसमें भी अक्षराम्भ 'ॐ नम: सिद्धम्' से करने की बात स्वीकार की गई है। 'सिद्धं वर्ण समाम्नाय:' भी इसका सूत्र है।

शाकटायन के संबंध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है कि वि.सं. ७३६–७९ में पाल्यकीर्ति नामक जैन श्रमण हुए थे, उन्होंने शाकटायन ग्रंथ की रचना की थी, वह ग्रंथ शाकटायन व्याकरण ग्रंथ के नाम से प्रसिद्ध हो गया। पाल्यकीर्ति के प्राप्त ग्रंथ में एक स्थान पर यह उल्लेख किया गया है–

''परिपूर्णमल्पग्रंथं लघूपायं शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं महाश्रमण संघाधिपतिर्भगवानाचार्य: शाकटायनः प्रारभते ''। [४८]

श्री मधुकर ने इस संबंध में लिखा है– ''ओनामासीधं शब्द संस्कृत भाषा के प्राचीनतम वैयाकरण महर्षि शाकटायन के व्याकरण का प्रथम सूत्र– 'ओऽम नम: सिद्धम्' है। पुराने जमाने में बालक को विद्यारंभ कराते समय सबसे पहले इसी सूत्र की शिक्षा दी जाती थी। [४९]

४६. जैन साहित्य और इतिहास, पं. नाथूराम प्रेमी, बंबई द्वि. सं.,अक्टूबर १९५६, पृ. २११

४७. वही, पृ. ४६

४८. पाल्यकीर्ति रचित स्वोपज्ञ अमोघ वृत्ति, शाकटायन व्याकरण, स्व. डा. के. बी. पाठक संपादित, १३ वीं वृत्ति।

४९. ओनामासीधम : बाप पढ़े न हम – कादम्बिनी, दिसंबर–१९८३, पृ. १०९

इन सभी प्रसंगों के अलावा 'ॐ नम: सिद्धम्' के संदर्भ में एक अत्यंत महत्वपूर्ण विचारणीय प्रसंग है, वह यह कि संस्कृत के 'नम:' शब्द के साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है और इस मंत्र में द्वितीया एकवचन है, इसका क्या कारण है अथवा यहां नम: शब्द के साथ चतुर्थी विभक्ति होना चाहिए थी ?

सबसे पहली बात तो यह है कि उपरोक्त विभिन्न व्याकरण ग्रंथों में 'ॐ नम: सिद्धम्' के प्रसंगों का अवलोकन हम कर चुके हैं। दूसरी बात यह है कि इस मंत्र में द्वितीया हो या कि चतुर्थी विभक्ति यह अवश्य ही चिंतन–मनन का विषय है। इस संबंध में आदरणीय गोस्वामी जानकी प्रसाद जी शास्त्री बीना से जो चर्चा हुई थी, वह इस जिज्ञासा का पूर्ण समाधान करने में सक्षम है। श्री शास्त्री जी व्याकरणाचार्य हैं और संस्कृत के विशिष्ट ज्ञाता हैं, उन्होंने अनेक साधु संघ के लोगों को तथा विद्यार्थियों को व्याकरण का ज्ञान नि:स्वार्थ भाव से प्रदान किया है। बीना (जिला– सागर, म. प्र.) में सन् १९८० से ८२ के मध्य मुझे भी गुरु जी से संस्कृत व्याकरण पढ़ने का शुभयोग प्राप्त हुआ था। सकल तारण तरण जैन समाज बीना का मेरे अध्ययन में पूर्ण सहयोग और बहुत उत्साह रहा।

१९९३ में बीना में 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र के संबंध में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति के संदर्भ में चर्चा प्रारंभ हुई थी और काफी शोध मंथन के पश्चात् श्री शास्त्री जी ने जो व्याकरण का सार मुझे दिया वह इस प्रकार है–

''ॐ नम: सिद्धम्'' अत्र नम: शब्दो निपातो द्योतक:। उक्तो नम: पदार्थोऽत्र कृधातो रेवार्थ:। स्व विषय विषयावधित्व समानाधिकरण समवाय रूपेण फलतावच्छेदक सम्बंधेन स्व निष्ठापकृष्टत्व ज्ञान बोध रूप फलाश्रयतया सिद्ध पदस्य कर्मत्वम्। स्व विषयेत्यत्र स्व शब्देनापकृष्टत्व ज्ञान बोध रूपं फलम्।

''सिद्धेभ्य: नम:'' अत्र अपकृष्टत्व ज्ञान बोधानुकूलो व्यापारो नम: पदार्थ:। तत्रापकर्ष: प्रयोक्तृ पुरुष विशेष निष्ठो नमस्कार्यावधिक एव प्रतीयते, व्यापारश्च कर शिर: संयोगादि ईदृश शब्द प्रयोग रूप: प्रयोक्तृ निष्ठा प्रतीयते शब्द शक्ति स्वभावात्। चतुर्थ्यर्थ उद्देश्यत्वम्। एवञ्च सिद्ध पदोद्देश्यको सिद्धावधि कायकृष्टत्व प्रकारक ज्ञान बोधानुकूलो व्यापार: इति बोध:। एष: अर्थ: नम: सिद्धेभ्य: इत्यादौ त्याग: एवं नम: शब्दार्थ: त्यागश्च स्व स्वत्व निवृत्यनुकूल: व्यापार:।

इसका विशेष सार इस प्रकार है– '' प्राचीन शिक्षा तंत्र में वर्ण समाम्नाय के शिक्षण में प्रथम 'ॐ नम: सिद्धम्' इस मंगल सूत्र का बालकों को उच्चारण कराया जाता था। जो कालान्तर में 'ओ ना मा सी ध म' के रूप में रूपान्तरित हो

गया। इस मंगल सूत्र में व्याकरण की दृष्टि से यह विचारणीय है कि 'ॐ नम: सिद्धम्' में 'सिद्धम्' पद द्वितीयांत है, जबकि पाणिनीय व्याकरण के सूत्र **''नम: स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽलं वषट् योगाच्च ''** (२/३/१६) एवं कातंत्र सूत्र **नम: स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽलं वषट् योगे चतुर्थी** (४०२)'' के अनुसार नम: पद के योग में चतुर्थी होना चाहिये द्वितीया नहीं। यहाँ सिद्धं पद अशुद्ध प्रतीत होता है, जबकि अशुद्ध है नहीं।

इसका समाधान निम्न प्रकार से होता है– **''उपपद विभक्ते: कारक विभक्ति: बलीयसी'' इस परिभाषा के अनुसार 'नम: सिद्धम्' में कारक विभक्ति बलवान होने से द्वितीया विभक्ति ही समीचीन है।**

उपपद विभक्ति का लक्षण– 'पदमुद्दिश्य विधीयमाना विभक्ति: उपपद विभक्ति: ''।

कारक विभक्ति का लक्षण– ''**क्रि या जनकार्थ विभक्ति: कारक विभक्ति:''।** [५०]

जहाँ नम: पद को उद्देश्य करके विभक्ति का प्रयोग होगा, वहाँ उपपद विभक्ति होगी, उपपद विभक्ति में चतुर्थी विभक्ति होगी किन्तु जहाँ कारक को लक्ष्य करके क्रिया जनक अर्थ में विभक्ति होगी, वह कारक विभक्ति होगी। यहाँ 'सिद्धम्' को लक्ष्य करके क्रिया जनक अर्थ में नम: का प्रयोग किया गया है। अतएव यहाँ कारक विभक्ति है, इसलिये उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति के लिये सूत्र है ''**कर्मणि द्वितीया''** कर्म में द्वितीया होती है। यहाँ सिद्धं पद कर्म है, क्रिया नम: है, कर्ता अदृश्य है, और भी यहाँ पर सिद्धम् पद **''जहत्स्वार्थ वृत्ति''** परिभाषा के अनुसार नम: पद अपने पद का त्याग करता है, अर्थ है ''**कर शिर: संयोगादि रूप: नम:''** पद का अर्थ है जो नम: सिद्धं वाक्य में अपने अर्थ को त्यागता है।

नम: सिद्धेभ्य: यहाँ पर कर शिर: संयोगादि रूप अर्थ का ग्रहण होने से चतुर्थी विभक्ति उचित है। प्रमाण रूप में यह परिभाषा दृष्टव्य है **''अर्थ पद ग्रहणे नानार्थकस्य ग्रहणं''** इस सूत्र के अनुसार अर्थवान पद ग्रहण करने पर ''**अजहत् स्वार्थ वृत्ति ''** के कारण नम: सिद्धेभ्य: कहना उचित होगा। इसका अर्थ होगा कि सिद्धों को अपने अनुकूल करने के लिए हाथों की अंजुलि बनाकर शिर से प्रणाम करना।

---

५०. ॐ नम: सिद्धम् की प्रामाणिकता : व्याकरणाचार्य जानकी प्रसाद जी शास्त्री बीना, १० जून १९९६

इस विवेचना द्वारा यह सिद्ध हुआ कि सिद्धम् पद द्वितीयांत ही रहेगा। इसी प्रकार का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है। जैसे– पंच णमोकार मंत्र में भी द्वितीयांत का प्रयोग किया गया है, यथा ''णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं''।

इसी प्रकार सिद्धांत कौमुदीकार भट्टो जी दीक्षित ने अपने मंगलाचरण में नम: के योग में द्वितीया का प्रयोग किया जो इस प्रकार है –

मुनित्रयं नमस्कृत्य, तदुक्ती: परिभाव्य च।
वैयाकरण सिद्धांत, कौमुदीय विरच्चते॥

यहां 'मुनित्रयं' नम: के योग होने पर भी द्वितीयांत ही है। इस प्रकार 'ॐ नम: सिद्धम्' की सत्यता और प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है। [५१]

जैन दर्शन में महामंत्र के रूप में अत्यंत श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाने वाला णमोकार मंत्र द्वादशांग का मूल है, पैंतीस अक्षरमयी है। संसार में सारभूत है जिसके स्मरण से पाप नष्ट हो जाते हैं। यह मंत्र आचार्य भूतबली पुष्पदंत महाराज द्वारा षट्खंडागम ग्रंथ में मंगलाचरण के रूप में लिखा गया है। [५२]

पांच पदों की अपेक्षा इसे अनादि निधन माना जाता है। इस मंत्र में जो पांच पद हैं उनमें भी व्याकरण की दृष्टि से प्रत्येक पद में द्वितीया और चतुर्थी का योग है। चर्चा सागर ग्रंथ के लेखक ने णमोकार मंत्र के प्रत्येक पद को द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी के रूपों में सिद्ध किया है। [५३]

चर्चा सागर में लिखा गया है कि यह पंच नमस्कार मंत्र अनेक महिमाओं से सुशोभित है, इसके पदों के अक्षरों की रचना का क्या स्वरूप है ? इसमें कौन–कौन देव हैं और यह मंत्र किस धातु से किस–किस प्रत्यय से किस–किस संधि और विभक्ति से बना है, इसका क्या अर्थ है और क्या फल है, इन सबका स्वरूप समझना चाहिये।

मूल मंत्र इस प्रकार है–

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं॥

इसका अर्थ इस प्रकार है– अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और इस लोक में रहने

५१. ॐ नम: सिद्धम् की प्रामाणिकता: व्याकरणाचार्य गोस्वामी जानकी प्रसाद जी शास्त्री, बीना १० जून १९९६

५२. षट्खंडागम, सत्प्ररूपणा–खंड १, पु. १, भाग १, सोलापुर प्रकाशन १९९२

५३. चर्चासागर, चर्चा क्र. २००, पृष्ठ– ३७१.

वाले सभी साधुओं को नमस्कार हो, ऐसा मान्य अर्थ है। अथवा नम: शब्द के साथ चतुर्थी विभक्ति लगती है , जिसका अर्थ है अरहंतों के लिए नमस्कार हो, सिद्धों के लिये नमस्कार हो, इस प्रकार पांचों पदों में जोड़ लेना चाहिये। [५४]

यहाँ नम: शब्द के योग से संयुक्त करके इन पदों का अर्थ अरिहंत के लिये नमस्कार हो ऐसा अर्थ किया गया है, इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि अरिहंतों को, सिद्धों को, आचार्यों को नमस्कार हो, इस प्रकार जो अर्थ किया गया है वह द्वितीया विभक्ति की अपेक्षा से है। इसकी सिद्धि इस प्रकार है।

पहला पद ' णमो अरहंताणं' अथवा 'णमो अरिहंताणं' है। अर अथवा अरि शत्रु को कहते हैं और हंता मारने या घात करने वाले को कहते हैं, इन दोनों के मिलने से द्वितीया विभक्ति का बहुवचन अरिहतॄन बनता है, णमो का अर्थ नम: है।'अरिहंत भगवान को नमस्कार करता हूं' ऐसा अर्थ होता है। इसका निरुक्ति अर्थ इस प्रकार है कि ''ज्ञानावरणादिचतुर्घाति कर्मारातीन् हंतीति अरिहंत अथवा कर्मारातीन् हंतीति अरिहंत'' जो ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मो का घात अर्थात् क्षय करे वह अरिहंत कहलाते हैं। इस प्रकार अरिहंत शब्द बनता है। अरिहंत शब्द से द्वितीया की बहुवचन विभक्ति शस् आती है, इसमें सकार का लोप करने पर अरिहंतृ अस् हो जाता है, पूर्व स्वर को दीर्घ होकर सकार को नकार हो जाता है, इस प्रकार अरिहंतॄन बन जाता है। अरिहंतारम् और अरिहंतॄन शब्द की सिद्धि इस प्रकार है– **अरिहंतृ शब्दात् द्वितीया एक वचने अम् विभक्ति 'ऋतोङि सर्वनाम स्थानयो: 'इति सूत्रेण ऋकारस्य गुणे अरिहंतर् अम् इति जाते ''अप्तॄन् तृच् '' इति सूत्रेण उपधाभूत अकारस्य दीर्घे कृते अरिहंतारम् इति सिद्धयति।**

अरिहंतृ शब्दात् द्वितीया बहुवचने शस् विभक्ति अनुबंध लोपे अरिहंतृ अस् इति स्थिते ''प्रथमयो: पूर्व सवर्ण: दीर्घ: '' इति सूत्रेण पूर्व सवर्ण दीर्घे अरिहंतॄस् ''तस्माच्छसो न: पुंसि'' इति सूत्रेण सकारस्य नकारे कृतेअरिहंतॄन् इति सिद्धम्।

अरिहंतृ शब्द से द्वितीया के बहुवचन में शस् विभक्ति, शस् के सकार का लोप करने पर अरिहंतृ अस् रहा, प्रथमयो: पूर्व सवर्ण: दीर्घ: सूत्र से ऋकार को दीर्घ किया और ''तस्माच्छसो न: पुंसि'' सूत्र से सकार को नकार करने पर अरिहंतॄन् सिद्ध हो जाता है।

'णमो प्रभुत्वे शब्दे च' अर्थात् णम धातु का अर्थ प्रभुपना और शब्द है। चकार से भक्ति करना नम्र होना भी है। उससे नम: बनता है अथवा नम: अव्यय

५४. वही, पृष्ठ ३५२

है उसका अर्थ नमस्कार करना होता है। नम: के योग में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। व्याकरण के नियमानुसार नमोर्हते,नमो अरहते वा नमो अरिहते बनता है। प्राकृत भाषा में नकार नहीं होता इसलिए णमो ही रहता है। इस प्रकार णमो अरिहंताणं या णमो अरहंताणं बनता है। इसमें द्वितीया और चतुर्थी दोनों के रूप समाहित हैं। [५५]

अब आगे णमो सिद्धाणं पद को सिद्ध करते हैं। इसका पहला अक्षर सि है, उसका अर्थ सिद्ध है। वही एकाक्षरी वर्ण मात्रा कोश में लिखा है ''सि सिद्धौ च'' सिद्ध परमात्मा निष्ठितार्थ हैं, उनके सभी कार्य सिद्ध हो गए हैं, इसलिए उन्हें सिद्ध कहते हैं। यहां पर भी विभक्ति आदि पहले के समान समझना चाहिए, इस प्रकार व्याकरण के अनुसार– 'नमो सिद्धान्' अथवा 'नम: सिद्धेभ्य:' बनता है। प्राकृत में 'णमो सिद्धाणं' ऐसा सिद्ध होता है। इसी प्रकार आचार्य पद सिद्ध होता है, इसमें भी विभक्ति आदि पूर्वोक्त अनुसार समझना तथा शस् विभक्ति लाकर द्वितीया का बहुवचन 'आचार्यान्' सिद्ध कर लेना चाहिए, अथवा नम: शब्द के योग से चतुर्थी विभक्ति लगाकर 'नम: आचार्येभ्य:' बना लेना चाहिए।

इन दोनों का प्राकृत भाषा में 'णमो आइरियाणं' बन जाता है इसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी के लिए शस् विभक्ति पूर्वक द्वितीया का बहुवचन 'नमो उपाध्यायान् अथवा चतुर्थी का नम: उपाध्यायेभ्य:' पद सिद्ध होता है, इसी को प्राकृत में 'णमो उवज्झायाणं' कहते हैं। पांचवें पद के रूप द्वितीया बहुवचन में 'नमो लोके सर्वसाधून्' और चतुर्थी में 'नम: लोके सर्व साधुभ्य:' बनता है तथा प्राकृत भाषा में 'णमो लोए सव्वसाहूणं' सिद्ध होता है। [५६]

इस प्रकार पंच णमोकार के पांचों पद सिद्ध हुए। यदि इन्हीं शब्दों का षष्ठी का बहुवचन बनाया जाए तो इन शब्दों से आम् विभक्ति लगाकर नु का आगम करते हैं, न् आम् नाम् हो जाता है। नाम् परे हो तो अकार को दीर्घ हो जाता है, इन सब क्रियाओं को कर लेने पर अरिहंतानां, सिद्धानां, आचार्याणाम्, उपाध्यायानां तथा भानु शब्द के समान सर्व साधूनां सिद्ध होते हैं। नम: शब्द के लगाने से सबको नमस्कार हो ऐसा अर्थ होता है।

प्राकृत भाषा के अनुसार इन सब विभक्ति सहित शब्दों की यंत्र रचना इस प्रकार है– [५७]

५५. वही, पृष्ठ ३५८

५६. वही, पृष्ठ– ३६०,३६८

५७. वही, पृष्ठ ३७१

संस्कृत द्वितीया का बहुवचन	षष्ठी का बहुवचन	प्राकृत भाषा का पाठ
नमो अरिहंतान्	नमो अरिहंतानां	णमो अरिहंताणं अथवा णमो अरहंताणं
नमो सिद्धान्	नमो सिद्धानां	णमो सिद्धाणं
नमो आचार्यान्	नमो आचार्याणाम्	णमो आइरियाणं
नमो उपाध्यायान्	नमो उपाध्यायानाम्	णमो उवज्झायाणं
नमो लोके सर्व साधून्	नमो लोके सर्व साधूनाम्	णमो लोए सव्व साहूणं

प्रश्न – इस णमोकार मंत्र में नम: शब्द है, इसके योग में चतुर्थी विभक्ति होती है, सो तुमने द्वितीया और षष्ठी रूप क्यों लिखा है, चतुर्थी विभक्ति का ही रूप लिखना चाहिए ?

समाधान– नम: शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है परंतु द्वितीया और षष्ठी का निषेध नहीं है। आगे प्रश्न के अनुसार चतुर्थी विभक्ति का भी रूप दिखलाते हैं– 'णमो अरहंताणं–नमोऽर्हदभ्य:–अरहतों के लिए नमस्कार हो। णमो सिद्धाणं–नम: सिद्धेभ्य:–सिद्धों के लिए नमस्कार हो। णमो आइरियाणं नम: आचार्येभ्य:–आचार्यों के लिए नमस्कार हो। णमो उवज्झायाणं–नम: उपाध्यायेभ्य:–उपाध्यायों के लिए नमस्कार हो। णमो लोए सव्व साहूणं–नम: लोके सर्व साधुभ्य:–लोक में समस्त साधुओं के लिए नमस्कार हो। इस प्रकार द्वितीया चतुर्थी और षष्ठी तीनों के रूप सिद्ध होते हैं। [५८]

इससे सिद्ध होता है कि नम: शब्द के योग में चतुर्थी के अलावा द्वितीया और षष्ठी के रूप भी संभव हैं जैसा चर्चा सागर से स्पष्ट है। ''व्याकरणाचार्य श्री जानकी प्रसाद जी शास्त्री बीना के अनुसार 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र में जो द्वितीयांत सिद्धम् पद है इसका खुलासा तो पूर्व में हो ही गया है। इसमें उपपद विभक्ति, कारक विभक्ति, जहत् स्वार्थ वृत्ति: और अजहत्स्वार्थ वृत्ति: आदि के अनुसार द्वितीया और चतुर्थी का योग बनता है। [५९]

इसी संदर्भ में अध्यात्मयोगी श्री मनोहर जी वर्णी सहजानंद महाराज का कथन महत्वपूर्ण है– ''सिद्ध भगवान को नमस्कार करने के संबंध में दो मंत्र आते

५८. वही, पृष्ठ ३७१

५९. ॐ नम: सिद्धं की प्रामाणिकता: व्याकरणाचार्य श्री जानकी प्रसाद जी शास्त्री बीना, १० जून १९९६

हैं– एक 'ॐ नम: सिद्धेभ्य:' और दूसरा– 'ॐ नम: सिद्धम्' । ''ॐ नम: सिद्धम्'' भी बहुत प्राचीन मंत्र है। आज के देहातों में रहने वाले जो वृद्ध पुरुष हैं, वे इस बात को जानते होंगे। इस मंत्र को कुछ अशुद्ध रूप में सिखाने की रूढ़ि रही। ओ ना मा सी धं यह ॐ नम: सिद्धम् का बिगड़ा हुआ रूप है। अब आप अंदाज कर लें कि 'ॐ नम: सिद्धम्' कितना प्राचीन मंत्र है। [६०]

ॐ नम: सिद्धेभ्य: और ॐ नम: सिद्धम् यह दोनों ही मंत्र सही हैं; पर प्रयोजन देखो तो उसके अंदर मर्म छिपा हुआ है। उस पर दृष्टि डाली जाए तो द्वैत और अद्वैत की भावना का अंतर इसमें स्पष्ट होता है। ॐ नम: सिद्धेभ्य: में सिद्ध भगवतों के लिए जो कि व्यक्तिश: अनंतानंत हैं उनको वंदन किया है और ॐ नम: सिद्धम् में व्यक्ति सिद्ध को न कहकर उन सिद्धों का स्वरूप एक जानकर उस सिद्ध स्वरूप को ही सिद्ध कहकर उस सिद्ध स्वरूप के अनुकूल अपने आपको करने के लिए यहां नमस्कार किया गया है। नम: शब्द का प्रयोग व्याकरण शास्त्र के अनुसार जहां होता है वहां चतुर्थी विभक्ति के योग में होता है जिसको कि नमस्कार किया गया है। 'नम:' इस व्याकरण सूत्र से चतुर्थी विभक्ति में नमस्कार शब्द आता है ; किंतु अध्यात्म की प्रक्रिया में जिनको नमस्कार किया गया है उनके अनुकूल होने का प्रयोजन रहता है इसलिए 'नम:' शब्द के साथ द्वितीया विभक्ति भी आती है। [६१]

परमात्मा का स्मरण करना शुभ भाव है और परमात्मा के समान अपने स्वरूप का अनुभव करना शुद्ध भाव अर्थात् धर्म है यह अंतर्दृष्टि का विषय है।

इस विषय में श्री गुरुदेव आचार्य तारण स्वामी कृत कमल बत्तीसी ग्रंथ की टीका के पश्चात् भारत भ्रमण समीक्षा के प्रश्नोत्तरों में सबसे पहला प्रश्न है जो इस प्रकार है –

प्रश्न– ॐ नम: सिद्धम् और ॐ नम: सिद्धेभ्य: में क्या अंतर है और इसका क्या अर्थ है ?

समाधान– ॐ नम: सिद्धेभ्य: अर्थात् सिद्ध भगवंतों को नमस्कार हो।

ॐ नम: सिद्धम् अर्थात् सिद्ध स्वरूप को नमस्कार हो। 'सिद्धेभ्य:' बहुवचन है, इसमें सिद्ध भगवंतों को नमस्कार है। जो श्रद्धा की अपेक्षा परोन्मुखी दृष्टि है। 'सिद्धम्' एकवचन है, इससे सिद्ध स्वरूप को नमस्कार होता है। इसमें श्रद्धा की अपेक्षा सिद्ध परमात्मा भी आ गए और अपना सिद्ध स्वरूप भी आ गया तथा दृष्टि

६०. सिद्ध भक्ति प्रवचन, क्षु. सहजानंद महाराज, सहजानंद शास्त्रमाला मेरठ प्रकाशन सन् १९७६, पृष्ठ ५

६१. वही, पृष्ठ ५, ६

की अपेक्षा स्वोन्मुखी दृष्टि है, जो सम्यक्दर्शन धर्म का हेतु है। श्री गुरु तारण स्वामी का यह सिद्ध मंत्र है जो कई ग्रंथों में दिया गया है '' [६२]

'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र के स्मरण पूर्वक अक्षराम्भ करने के कारण ही वर्णमाला को 'सिद्ध मातृका' कहा गया। जैसा यह शब्द है 'सिद्ध मातृका' इससे अक्षरावली के स्वयं सिद्ध होने का बोध होता है। यही कारण है कि अनेक आचार्यों ने सिद्ध मातृका के संबंध में अपने ग्रंथों में उल्लेख किया है।

तत्वसार दीपक नामक ग्रंथ श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज द्वारा लिखा गया है, इस ग्रंथ का यह श्लोक स्मरणीय है –

ध्यायेदनादि सिद्धांत व्याख्यातां वर्णमातृकाम् ।
आदिनाथ मुखोत्पन्नां विश्वागम विधायिनीम् ॥

अर्थ– अनादि सिद्धांत के रूप में प्रसिद्ध एवं संपूर्ण आगमों की निर्मात्री भगवान आदिनाथ के मुख से उत्पन्न वर्ण मातृका का ध्यान करना चाहिए। [६३]

चर्चा सागर ग्रंथ में णमोकार मंत्र की विशेषता और महिमा बताते हुए लेखक ने लिखा है–

''यह पंच णमोकार मंत्र अनादि निधन है, इसका कोई कर्ता नहीं है। यह अनादिकाल से स्वयं सिद्ध चला आ रहा है। कालाप व्याकरण का पहला सूत्र है–**''सिद्धो वर्ण समाम्नाय:''**अर्थात् वर्णों का समुदाय सब स्वयं सिद्ध है। अकार से लेकर ह तक के अक्षरों को वर्ण कहते हैं। यह सब स्वाभाविक अक्षर हैं, इन्हीं अक्षरों के द्वारा द्वादशांग की रचना हुई है। वह भी अनादिनिधन है और परंपरा से बराबर चली आ रही है। [६४]

श्री भर्तृहरि ने भी अपनी रचना 'वाक्य पदीयम्' में वर्ण मातृका अथवा वर्ण समाम्नाय की अनादि सिद्धांत के रूप में चर्चा की है। उन्होंने लिखा है–
'' अस्याक्षर समाम्नायस्य वाग्व्यवहार जनकस्य न कश्चित् कर्ताऽस्ति एवमेव वेदे पारम्पर्येण स्मर्यमाणम्'' अर्थात् इस अक्षर समाम्नाय का कोई कर्ता नहीं है, यही अक्षर समाम्नाय समस्त पद वाक्य रूप वाग्व्यवहार का जनयिता है। परंपरा से वेद में ऐसा ही स्मरण किया गया है। **''सिद्धो वर्ण समाम्नाय:''** तथा **''सिद्धम् नम:''** पदों से वर्ण समाम्नाय अनादि सिद्ध है। [६५]

६२. कमलबत्तीसी, भारत भ्रमण समीक्षा, ब्र. बसंत, पृष्ठ १४५, ब्रह्मानंद आश्रम पिपरिया प्रकाशन सन् १९९९

६३. तत्वसार दीपक, श्लोक ३५

६४. चर्चासागर, पृ. ३५२

६५. भर्तृहरि द्वारा रचित वाक्यपदीयम्

श्री महेश कुमार मिश्र के अनुसार भी यह वर्णमाला स्वयं सिद्ध मानी गई है। उनका कथन है– ''वैसे इस सूत्र– **'ओऽम् नम: सिद्धम्'** का भावार्थ स्पष्ट है कि जिसने योग या तप के द्वारा अलौकिक सिद्धि प्राप्त कर ली है; अथवा जो बात तर्क और प्रमाण के द्वारा सिद्ध हो चुकी है उसे नमस्कार है। भारतीय भाषाओं की वर्णमाला चूंकि वेद सम्मत तथा स्वयं सिद्ध मानी जाती है अत: कहा जा सकता है कि 'सिद्धम्' का प्रयोग उसी के निमित्त किया गया है। कुछ लोग इसका संबंध गणेश, वाग्देवी तथा जैन तीर्थंकर महावीर से भी जोड़ते हैं।[६६]

श्री अमृतचंद्राचार्य जी बहुश्रुत ज्ञानी सत्पुरुष थे, श्री पुरुषार्थ सिद्धि उपाय ग्रंथ के अंतिम श्लोक में आचार्य अपनी लघुता के आधार पर एक महत्वपूर्ण तथ्य प्रगट करते हैं कि यह वर्ण आदि अपने में स्वयं सिद्ध हैं यही ग्रंथ के वास्तविक कर्ता हैं। उन्होंने लिखा है –

वर्णै: कृतानि चित्रै: पदानि तु पदै: कृतानि वाक्यानि।
वाक्यै: कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभि: ॥

अर्थ – अनेक प्रकार के अक्षरों से रचे गए पद, पदों से बनाए गए वाक्य हैं और उन वाक्यों से फिर यह पवित्र पूज्य शास्त्र बनाया गया है, हमारे द्वारा कुछ भी नहीं किया गया है।[६७]

अक्षर, पद, वाक्यों से इस ग्रंथ की रचना हुई है ऐसा आचार्य यहां कहना चाहते हैं। इसी प्रकार का उल्लेख उन्होंने तत्त्वसार में भी किया है –

वर्णा: पदानां कर्तारो, वाक्यानां तु पदावलि: ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य, कर्तृणि किं पुनर्वयम् ॥

अर्थ – विविध वर्णों से पद, पदों से वाक्य और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बना है, इसे हमने नहीं बनाया।[६८]

श्री अमृतचंद्राचार्य जी ने इसी प्रकार का कथन अध्यात्म अमृत कलश के अंतिम श्लोक में किया है –

स्व शक्ति संसूचित वस्तु तत्वै–
र्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दै: ।
स्वरूप गुप्तस्य न किंचिदस्ति,
कर्तव्यमेवामृतचंद्र सूरे: ॥

६६. ओनामासीधम: बाप पढ़े न हम, कादंबिनी, १९८३
६७. पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, अमृतचंद्राचार्य, सोनगढ़ प्रकाशन, वि. सं. २०३५ गा. २२६, पृष्ठ– १९५
६८. अध्यात्म अमृत कलश, पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री, पृष्ठ ५५

अर्थ – जिनने अपनी शक्ति से वस्तु तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को भलि–भांति कहा है, ऐसे शब्दों ने इस समय की व्याख्या अर्थात् आत्म वस्तु का व्याख्यान अथवा समय प्राभृत की टीका की है। स्वरूप गुप्त अमृतचंद्र सूरि का इसमें कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है।[६९]

आचार्य ने मात्र वर्ण और वाक्य को ही महत्ता दी है, इस प्रकार अपूर्व भाव का प्रकाशन करने वाले वे अनूठे संत थे। अमृतचंद्राचार्य दिगम्बर जैन साधु थे। वाक्य पदीयम् के लेखक भर्तृहरि वैदिक परंपरा का अनुगमन करने वाले थे । इसी प्रकार चर्चा सागर के लेखक जैन विद्वान हैं और महेश मिश्र वैदिक परंपरानुवादी हैं परंतु सभी ने सिद्ध मातृका को अनादि सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया है, इसका अर्थ है कि प्राचीनकाल से अब तक जैन और वैदिक परंपरा में मातृका को एक समान रूप से स्वीकार किया गया है।

वर्ण मातृका के संबंध में विक्रम की ११ वीं सदी के लगभग हुए शुभचंद्राचार्य जी ने भी ज्ञानार्णव में उल्लेख किया है।

ध्यायेदनादि सिद्धांत प्रसिद्ध वर्णमातृकाम् ।
नि:शेष शब्द विन्यास जन्मभूमिं जगन्नुतां ॥

अर्थ – अनादि सिद्धांत के रूप में प्रसिद्ध वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिए। यह विश्व के संपूर्ण शब्द विन्यास की जन्मभूमि है, ऐसा सभी को मालूम है।[७०]

अक्षर पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है **''न क्षरति इति अक्षर:''** जिसका कभी क्षरण न हो वह अक्षर है। अतएव अक्षरं ब्रह्म कहकर अक्षर को परमात्मा का स्वरूप माना गया है। अतएव अक्षर अनादि स्वयंभूत है किसी के द्वारा निर्मित नहीं है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के रचयिता पं. टोडरमल जी ने भी इस सत्य को स्वीकारते हुए बहुत ही महत्वपूर्ण कथन किया है।

''अकारादि अक्षर हैं वे अनादि निधन हैं, किसी के किए हुए नहीं हैं। इनका आकार लिखना तो अपनी इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार है, परंतु जो अक्षर बोलने में आते हैं वे तो सर्वत्र सर्वदा ऐसे प्रवर्तते हैं। इसलिए कहा है कि –**''सिद्धो वर्ण समाम्नाय:''** इसका अर्थ यह है कि जो अक्षरों का सम्प्रदाय है सो स्वयं सिद्ध है तथा उन अक्षरों से उत्पन्न सत्यार्थ के प्रकाशक पद उनके समूह का नाम श्रुत है, सो भी अनादि निधन है। जैसे– 'जीव' ऐसा अनादि निधन

६९. समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट प्रकाशन
७०. ज्ञानार्णव, शुभचंद्राचार्य, ३८/२८

पद है सो जीव को बतलाने वाला है। इस प्रकार अपने-अपने सत्य अर्थ के प्रकाशक अनेक पद उनका जो समुदाय सो श्रुत जानना। पुनश्च जिस प्रकार मोती तो स्वयं सिद्ध है, उनमें से कोई थोड़े मोतियों को, कोई बहुत मोतियों को, कोई किसी प्रकार, कोई किसी प्रकार गूंथकर गहना बनाते हैं; उसी प्रकार पद तो स्वयं सिद्ध है, उनमें से कोई थोड़े पदों को, कोई बहुत पदों को, कोई किसी प्रकार कोई किसी प्रकार गूंथकर ग्रंथ बनाते हैं। [७१]

यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि पं. टोडरमल जी ने जो लिखा कि अक्षरों का सम्प्रदाय सो स्वयं सिद्ध है, जैसे मोती स्वयं सिद्ध है, इससे वर्ण मातृका की स्वयं सिद्धता असंदिग्ध है। पं. जी ने उसे अनादि निधन कहा है। वह व्याकरण ग्रंथों की भांति आदि निधन नहीं है।

अपने सिद्ध स्वरूप के आराधन पूर्वक सिद्ध मातृका का अध्ययन निश्चित रूप से लौकिक शिक्षा में भी अध्यात्म के प्राण संचार करने वाला रहा। इस विधि से पूर्वकाल में हुए सत्पुरुषों ने भी सरस्वती को सिद्ध किया है। आचार्य वादीभ सिंह द्वारा रचित छत्र चूड़ामणि ग्रंथ जो आध्यात्मिक शिक्षा के साथ जीवन्धर की कथा कहता है।

कथा के माध्यम से यह ग्रंथ लौकिक और अलौकिक दोनों ही तत्त्वों की बात स्पष्ट करता है, इसी ग्रंथ का यह कथन द्रष्टव्य है –

निष्प्रत्यूहेष्ट सिद्धयर्थं सिद्ध पूजादि पूर्वकम्।
सिद्ध मातृकया सिद्धामथ लेभे सरस्वतीम्॥

अर्थ– अनन्तर निर्विध्न विद्या प्राप्ति के हेतु सिद्ध पूजादि पूर्वक उसने (जीवंधर ने) सिद्ध मातृका-अ, इ, उ, क, ख, आदि वर्णमाला सीखना आरम्भ किया और इस प्रकार सरस्वती को सिद्ध कर लिया। [७२]

इस प्रसंग में सिद्ध मातृका सीखने के पहले जो सिद्ध की पूजन की बात कही गई है वह भी सिद्ध को नमन करने के अर्थ में ही है। सिद्ध पूजन 'ॐ नम: सिद्धम्' से ही प्रारंभ होता है। दोनों में कोई अंतर नहीं है।

'ॐ नम: सिद्धम्' से प्रारंभ होने वाली सिद्ध मातृका के संबंध में राष्ट्र संत पूज्य आचार्य विद्यानंद जी को राजस्थान में एक पट्टिका प्राप्त हुई है, उस पर बारहखड़ी लिखी है और उसका प्रारंभ 'ॐ नम: सिद्धम्' से ही हुआ है। आर्कियोलॉजी (पुरातत्त्व) विभाग ने उसे २०० वर्ष पुराना माना है। इससे सिद्ध

७१. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमल जी, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर प्रकाशन १२ वीं वृत्ति १९९५, पृ. ९-१०

७२. छत्रचूड़ामणि, आचार्य वादीभसिंह, १/११२

होता है कि सिद्ध मातृका का प्रारंभ 'ॐ नम: सिद्धम्' से करने का सर्वत्र प्रचलन था। [७३]

' बृहद् जैन शब्दार्णव' के प्रथम खण्ड में लिखा मिलता है कि– ''उस ब्राह्मी नामक मूल अक्षर लिपि ६४ अक्षरों की अक्षरावली को 'सिद्ध मातृका' भी कहते हैं; इसलिये कि ऋषभदेव स्वयम्भू भगवान ने जो स्वायम्भुव व्याकरण की सर्वप्रथम रचना की, उसमें प्रथम 'ॐ नम: सिद्धम्' लिखकर अक्षरावली का प्रारंभ किया, जो समस्त श्रुतज्ञान अथवा शास्त्र ज्ञान को सिद्ध करने का मूल है। [७४]

जैन दर्शन में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का विशिष्ट स्थान है, उनके द्वारा रचित ग्रंथ प्रामाणिक माने जाते हैं। उन्होंने गोम्मटसार जीवकाण्ड में मूल वर्णमाला को अनादि निधन कहा है –

तेत्तीस वेंजणाइं, सत्तावीसा सरा तहा भणिया।
चत्तारि य जोगवहा, चउसट्ठी मूल वण्णाओ॥

अर्थ– तेतीस व्यंजन, सत्ताईस स्वर, चार योगवाह इस तरह कुल ६४ मूल वर्ण होते हैं।

स्वर के बिना जिसका उच्चारण न हो सके ऐसे अर्धाक्षरों को व्यंजन कहते हैं, उनके क्, ख्, से ह् पर्यन्त तेतीस भेद हैं। अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, यह नव अक्षर हैं, इनके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं, अनुस्वार विसर्ग, जिव्हामूलीय और उपधमानीय यह चार योगवाह हैं यह सब मिलाकर चौंसठ अनादिनिधन मूलवर्ण हैं। इसको ही वर्ण समाम्नाय कहते हैं। [७५]

श्री नेमिचन्द्राचार्य जी ने अन्य आचार्यों की तरह वर्ण समाम्नाय को अनादि माना है; किन्तु आचार्य उसे सादि भी कहते हैं क्योंकि वर्ण आकार ग्रहण करते हैं और उनमें परिवर्तन भी होता है इस अपेक्षा द्रव्यश्रुत को आदि और भावश्रुत को अनादि माना है। गोम्मटसार का यह कथन जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धांत को सिद्ध करता है और अनेकांतात्मक परम्परा के अनुकूल है।

आचार्य नेमिचंद्र महाराज ने चामुण्डराय की प्रेरणा से गोम्मटसार की रचना की थी। चामुण्डराय गंगनरेश राचमल्ल के मंत्री थे। चामुण्डराय को गोम्मटराय

७३. ओ ना मा सी ध म: डॉ. प्रेमसागर जैन, पृष्ठ ४०, दिल्ली प्रकाशन १९८९

७४. वृहत् जैन शब्दार्णव, प्रथम खण्ड, बी. एल. जैन संपादित, स्वल्पार्ध ज्ञान रत्नमाला, बाराबंकी से प्रकाशित, पृष्ठ ३८

७५. गोम्मटसार जीवकांड, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम अगास, पृ.- १७९, ईस्वी सन् १९८५ षष्टम वृत्ति।

के नाम से भी जाना जाता है। अस्तु, गोम्मटराय की प्रेरणा के कारण गोम्मटसार की रचना हुई इसी कारण इसका नाम गोम्मटसार रखा गया।

गंगनरेश राचमल्ल का राज्यकाल विक्रम संवत् १०३१ से १०४१ तक माना जाता है। इसी आधार पर चामुण्डराय का समय ११ वीं सदी पूर्वार्द्ध निश्चित होता है; चूंकि नेमिचंद्राचार्य जी ने चामुण्डराय की प्रेरणा से ग्रंथ की रचना की अत: उनका काल भी ११ वीं सदी का पूर्वार्द्ध ही ठहरता है। [७६]

गोम्मटसार में जो ६४ मूलवर्ण माने गए हैं, उनमें से ऌ वर्ण संस्कृत में नहीं है, उसका वहां प्रयोग न होने से ६३ वर्ण होते हैं। तब भी अनुकरण में अथवा देशांतरों की भाषा में आता है इसलिए चौंसठ वर्णों में इसका भी पाठ है। [७७]

इसी कारण पाणिनीय शिक्षा ३ में कहा गया है –

त्रिषष्टि: चतुष्षष्टिर्वा वर्णा शम्भुमते मता: ।
प्राकृते संस्कृते चैव स्वयं प्रोक्ता स्यम्भुवा ॥

हिन्दी में ३३ व्यंजन, १६ स्वर और युग्माक्षर मिलाकर ५२ वर्ण माने जाते हैं।

आचार्य श्री मद् जिन तारण स्वामी ने ज्ञान समुच्चयसार ग्रंथ में ५२ अक्षर इस प्रकार बताए हैं–

ॐ नम: सिद्धम् ५ अक्षर, १४ स्वर और ३३ व्यंजन। [७८]

जैनागम के ज्ञाता, अनेक ग्रंथों के टीकाकार स्व. ब्र. शीतल प्रसाद जी ने आचार्य तारण स्वामी के १४ में से ९ ग्रंथों की टीका की है। श्री ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ की टीका में अक्षर, स्वर, व्यंजन का प्रकरण जहां समाप्त हुआ है वहां उन्होंने गाथा ७६३ और ७६४ के भावार्थ में लिखा है–

अष्यर सुर विंजन रुवं, पद विंद सुध केवलं न्यानं।
न्यानं न्यान सरुवं, अप्पानं लहंति निव्वानं ॥ ७६४ ॥

अर्थ– पांच अक्षर, चौदह स्वर और तैंतीस व्यंजन के द्वारा शुद्ध केवलज्ञान पद के धारी अरिहंत तथा सिद्ध का मनन करना चाहिए। अपने ज्ञानमयी आत्मा को ज्ञानमय आत्मा रूप ध्यान कर निर्वाण को प्राप्त करना चाहिए। [७९]

यहां चौदह स्वर, तैंतीस व्यंजन व पांच अक्षरी 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र इन

७६. जैन साहित्य और इतिहास, बंबई प्रकाशन, पृष्ठ– २७२
७७. गोम्मटसार जीवकांड, अगास प्रकाशन १९८५, पृष्ठ– १७९
७८. ज्ञान समुच्चयसार, आचार्य तारण स्वामी, अध्यात्मवाणी पृ. ५९–६२
७९. ज्ञान समुच्चयसार, ब्र. शीतलप्रसाद जी टीका, दि. जैन तारण तरण चैत्यालय ट्रस्ट कमेटी सागर प्रकाशन, तृतीय आवृत्ति १९९६, पृ. ३५४

बावन अक्षरों के मनन का सार यह है कि हम सिद्ध परमात्मा को पहिचानें, जो रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि आठों द्रव्यकर्म व शरीरादि नो कर्म से रहित हैं। परमानंद में निरंतर मग्न हैं। मोक्ष स्वरूप अमूर्तीक ज्ञानाकार तथा पुरुषाकार निकल परमात्मा निरंजन देव हैं। सिद्ध सम आपका ध्यान ही मोक्ष का साधन है। [८०]

मंत्र का मुख्य अभिप्राय तो अपने सिद्ध स्वरूप की आराधना अनुभव है। श्री जिन तारण स्वामी कहते हैं कि बावन अक्षर ही मुख्य हैं, जिनसे अपने अक्षय स्वरूप की आराधना होती है और इन अक्षरों से ही शास्त्र की रचना होती है। श्री उपदेश शुद्ध सार ग्रंथ में उन्होंने लिखा है कि बावन अक्षरों का क्या प्रयोजन है –

बावन अष्यर सुद्धं, न्यानं विन्यान न्यान उववन्नं।
सुद्धं जिनेहि भनियं, न्यान सहावेन भव्य उवएसं ॥

अर्थ – बावन अक्षर शुद्ध होते हैं, उनसे शास्त्र की रचना होती है, शास्त्र से अर्थ बोध ज्ञान होता है, अर्थ बोध ज्ञान से भेद विज्ञान होता है, भेद विज्ञान से आत्म ज्ञान पैदा होता है। ऐसा शुद्ध अक्षर ज्ञान जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, ज्ञान स्वभाव का भव्य जीवों को उपदेश दिया है। [८१]

यहां भी आचार्य तारण स्वामी ने बावन अक्षर की विशेषता बतलाई है। क्रम भी वही है– ॐ नम: सिद्धम्–५ अक्षर, १४ स्वर, ३३ व्यंजन यही जिनवाणी के मूल आधार हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में अक्षरावली का प्रारंभ 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र से होता था इसलिए श्री तारण स्वामी ने सर्व प्रथम 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र को लिया, वे वीतरागी आत्मज्ञानी छठे–सातवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी संत योगी साधु थे। उनने इस मंत्र का और संपूर्ण अक्षरावली का आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट किया है।

व्यवहार से यह बावन अक्षर शुद्ध होते हैं क्योंकि यह नाश रहित हैं, अनादिनिधन हैं, इन्हीं के संयोग से शास्त्रों की रचना होती है, ज्ञानी और अज्ञानी जीव द्वारा इनका जैसा प्रयोग किया जाता है वैसा ही शब्द भाषा और अर्थ हो जाता है।

जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा शुद्ध अक्षर, ज्ञान स्वभाव आत्मा का भव्य जीवों को उपदेश दिया गया है। उनकी वाणी ही जिनवाणी कहलाती है।

८०. वही, गाथा ३६३ का भावार्थ
८१. उपदेश शुद्धसार, पूज्य ज्ञानानंद जी महाराज कृत टीका, गाथा– ३३

जिनवाणी के स्वाध्याय से रागादि विकार क्षीण होते हैं, वस्तु स्वरूप का बोध होता है।

इन्हीं बावन अक्षरों का उल्लेख श्री जिन तारण स्वामी ने केवल मत के सुन्न स्वभाव नामक ग्रंथ में भी किया है, वह इस प्रकार है–

व्यंजन ५२, वीर ५२, अक्षर ५२, बावन तोले पाव रती ॥

इस ग्रंथ की टीका समाजरत्न पूज्य ब्र. श्री जयसागर जी महाराज ने की है। इस सूत्र के अर्थ में उन्होंने लिखा है– ''अक्षर ५२ हैं, स्वर– व्यंजन ५२ हैं। ५२ वीर कहावत है। ५२ तोले पाव रत्ती कहावत है। दोनों सूत्र सत्य का निर्णय चाहते हैं। [८२]

पूज्य जयसागर जी महाराज चारों अनुयोगों के ज्ञाता विशिष्ट ज्ञानी पुरुष थे। ब्र. शीतलप्रसाद जी ने जिन ग्रंथों की टीका की, उनके अलावा जो ५ ग्रंथ रहे– खातिका विशेष, सिद्ध स्वभाव, सुन्न स्वभाव, छद्मस्थवाणी और नाममाला। इन ग्रंथों की टीका पूज्य जयसागर जी महाराज द्वारा की गई। उपरोक्त सूत्र की टीका के अंत में उन्होंने लिखा है–

व्यंजन में सब स्वर छुपे, बावन में सब वीर।
आप छुपे हैं आप में, मिलें ज्ञान के तीर॥ [८३]

यह सूत्र यह संदेश दे रहा है कि जिनवाणी द्रव्यश्रुत रूप है और अंतर का अनुभव भावश्रुत रूप है, जो अंतर में ही प्रगट है।

जैन ग्रंथों में अक्षर के संबंध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। अक्षर की परिभाषा करते हुए कहा है– **'' न क्षरतीति अक्षर:''** अर्थात् जिसका क्षरण न हो, जिसका कभी नाश न हो उसे अक्षर कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है– द्रव्याक्षर और भावाक्षर, पहला मूर्तीक और दूसरा अमूर्तीक है।

पहला–दृष्ट, दूसरा–अदृष्ट, पहला– स्थूल, दूसरा–सूक्ष्म यह दोनों ही अक्षर ज्ञानरूप हैं। पहले से श्रुतज्ञान की रचना होती है और दूसरे से अध्यात्म ज्ञान जाग्रत होता है। श्री नेमिचंद्राचार्य जी ने श्रुत के दो भेद किए हैं– द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। इनके भेदों का उल्लेख करते हुए आचार्य लिखते हैं–

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणि जोगं च।
दुगवार पाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥
कम वण्णुत्तर वड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि।
णाण वियप्पे वीसं गंथे बारस य चोद्दसयं ॥

८२. ग्रंथरत्नत्रय, ब्र. जयसागर जी, सागर प्रकाशन, सन् १९९१, पृष्ठ– १००
८३. वही, पृष्ठ– १०२

अर्थ– अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व यह नव तथा क्रम से एक–एक अक्षर की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अक्षर समास आदि नव इस तरह अठारह भेद द्रव्यश्रुत के होते हैं। पर्याय और पर्याय समास के मिलाने से बीस भेद ज्ञानरूप श्रुत के होते हैं। यदि ग्रंथ रूप श्रुत की विवक्षा की जाये तो आचारांग आदि बारह और उत्पाद पूर्व आदि चौदह भेद होते हैं। [८४]

इस तरह श्रुत के दो भेद किए हैं– द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत। उनमें शब्दरूप और ग्रंथरूप सब द्रव्यश्रुत है और जो ज्ञानरूप है वह सब भाव श्रुत है। जैनाचार्यों ने एक–एक अक्षर से एक–एक श्रुतज्ञान उत्पन्न होने की बात मानी है। जितने अक्षर उतने ही श्रुतज्ञान हैं। श्री आचार्य तारण स्वामी ने लिखा है–**''शब्दभेय श्रुत नन्तानंतु''** अर्थात् शब्द के भेद से शास्त्र के भी अनंत भेद होते हैं। [८५]

आचार्य भूतबलि और पुष्पदंत ने षट्खंडागम में भी अक्षर आदि के स्वरूप को इसी प्रकार स्पष्ट किया है तदनुसार **''जावदियाणि अक्खराणि तावदियाणि चेव सुदणाणाणि''** जितने अक्षर अथवा अक्षर संयोग हैं, उतने ही श्रुतज्ञान हैं किंतु उनकी संख्या कितनी है यह जानना आसान काम नहीं है। वहां आचार्य ने लिखा है– ''श्रुतज्ञान की सर्व प्रकृतियों का कथन करने की शक्ति मुझमें नहीं है। [८६]

श्रुतज्ञान के यद्यपि अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दज और लिंगज इस तरह भी दो भेद किए हैं, किंतु इनमें अक्षरात्मक शब्दजन्य श्रुतज्ञान ही मुख्य माना है क्योंकि प्रथम तो निरुक्त्यर्थ करने पर उसके विषय में शब्द प्रधानता स्वयं व्यक्त हो जाती है। दूसरी बात यह है कि नामोच्चारण लेन–देन आदि समस्त लोक व्यवहार में तथा उपदेश शास्त्राध्ययन, ध्यान आदि की अपेक्षा मोक्षमार्ग में भी शब्द और तज्जन्यबोध श्रुतज्ञान की ही मुख्यता है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में पाया जाता है परंतु वह लोक व्यवहार और मोक्षमार्ग में भी उस तरह उपयोगी न होने के कारण मुख्य नहीं है। [८७]

यहां अक्षरात्मक ज्ञान की मुख्यता का प्रयोजन यह है कि अक्षरों के माध्यम

८४. गोम्मटसार जीवकांड, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम अगास प्रकाशन, छटवीं वृत्ति सन् १९८५, गाथा ३४८–३४९, पृ.– १७८
८५. श्री अध्यात्मवाणी ममलपाहुड़, संपादित प्रति पृष्ठ– २२७, गा. १०
८६. षट्खंडागम, पुस्तक १३, पृष्ठ– २४७–२४८
८७. गोम्मटसार जीवकांड, अगास प्रकाशन, पृष्ठ–१६७

से हमें अपने अक्षय स्वरूप की पहिचान करना चाहिए। यही प्रेरणा देते हुए आचार्य तारण स्वामी ने कहा है –

शब्दार्थ शब्द वेदंते, विंजनं पद विंदते।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, सब्द न्यान प्रयोजन ॥

अर्थ – शब्दों से शब्दार्थ का बोध होता है, व्यंजनों से पद जाना जाता है। आत्मा ही परमात्मा के समान है, यह जानना ही शब्द ज्ञान का प्रयोजन है। [८८]

श्री तारण स्वामी का मत है कि अक्षरों के सार्थक समूह को पद कहते हैं। पद के द्वारा ही पदार्थ की प्रतीति होती है। शब्दों को सीखने मात्र से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी। मात्र सीखा हुआ ज्ञान, आत्मबोध से रहित ज्ञान, आत्म कल्याण के मार्ग के कार्यकारी नहीं है। स्वयं आचार्य तारण स्वामी कहते हैं कि पढ़ा लिखा तो बहुत किंतु यदि उसका भाव नहीं समझा, उसे अपना अनुभव नहीं बनाया तो ऐसे कोरे क्षयोपशम ज्ञान से हित नहीं होगा।

इसी संदर्भ में उन्होंने सुन्न स्वभाव ग्रंथ में लिखा है –

पढ़ै गुनै मूढ़ न रहै ॥

पढ़ने गुनने के बाद भी मूढ़ न रह जाए। [८९]

अन्यथा फिर वैसा ही होगा –

कलदिस्टि, सर्वदिस्टि, पापदिस्टि पढ़ो सुवा बिलाइ लियो ॥

एक सेठ जी ने तोता पाला था और उसे सिखा दिया था ''तोता पिंजरे से बाहर नहीं निकलना, बिल्ली आयेगी और पकड़कर ले जाएगी '' तोते ने यह मंत्र याद कर लिया। कहीं मेरे सूने में तोता पिंजरे से बाहर न चला जाए इसलिए सेठ ने तोते को यह मंत्र याद करवा दिया था। तोते ने यह सीख लिया और दोहराता रहता। एक बार संयोग वश पिंजरे की फटकी खुली रह गई, सेठ पिंजरे की फटकी बंद करना भूल गया और तोता पिंजरे से बाहर आ गया। अपना पाठ जो याद किया था वही मंत्र दोहरा रहा था कि इतने में बिल्ली आई और तोते को पकड़ कर ले गई। [९०]

आचरण विहीन ज्ञान की कोरी चर्चा करने वाले जीवों की भी यही दशा हो

८८. श्री अध्यात्मवाणी, ज्ञानसमुच्चयसार, गाथा ४९, पृष्ठ २९, संपादित प्रति
८९. श्री अध्यात्मवाणी, सुन्न स्वभाव, सूत्र २० , पृष्ठ ३९६, संपादित प्रति
९०. अध्यात्म भावना, तारण पंथ परिचय, ब्र. बसंत, ब्रह्मानंद आश्रम पिपरिया प्रकाशन, सन् १९९९, पृष्ठ ७४–७५

रही है। जैसे तोते ने सीख लिया था किंतु उसका मर्म नहीं जानता था। इसी प्रकार हम लोग भी आत्मा की चर्चा कर रहे हैं और 'कलदृष्टि' अर्थात् शरीराश्रित हो रहे हैं,चर्चा आत्मा की और सेवा शरीर की ? क्या अर्थ होता है आत्मा का ? 'सर्वदृष्टि' हम कहते हैं कि संसार सब स्वार्थ का है; किंतु कहना कुछ और है; और दृष्टि उन ही सब पर पदार्थों पर संयोगों पर है, जिन्हें हम स्वार्थ पूर्ण कह रहे हैं।'पाप दृष्टि' कहते हैं कि पाप दु:ख के कारण हैं फिर भी पाप करने का ही मन में अभिप्राय है। पाप पर ही दृष्टि लगी हुई है। कहते हैं कि संसार शरीर सब नाशवान हैं, एक दिन आयु का अंत आएगा और सब छोड़कर जाना पड़ेगा, यहां कोई किसी का नहीं है, कुछ भी अपना नहीं है। यह सब हम तोते की तरह कहते ही रह जाते हैं और आयु कर्म का अंत रूपी बिलाव हमें (जीव को) संसार से उठाकर ले जाता है। विचार करें क्या **'पढ़ो सुवा बिलाइ लियो'** जैसी स्थिति नहीं हो रही है ? इसलिए सद्गुरु तारण स्वामी ने सावधान कर दिया है कि मात्र ऊपरी ज्ञान से, सीखे हुए बौद्धिक ज्ञान से आत्म कल्याण का मार्ग नहीं बनेगा।

''ज्ञानं भार: क्रिया बिना''

ज्ञान आचरण के बिना भार ही है। ज्ञान की शोभा तद्रूप आचरण से है। [९१]

श्री गुरु तारण स्वामी कहते हैं कि– ''तत्त्व तत्त्व तो सब लोग कहते हैं परंतु तत्त्व को कोई नहीं जानता, जिसके भय विनस गए वही भव्य है, उसने अपने अंतरात्मा सद्गुरु को जगाकर आत्मानुभव किया वही तत्त्व को जानता है।''

तत्तु तत्तु सबु लोय स उत्तउ, तत्तु भेउ नवि जानियऊ।
भय विनासु तं भवु जु कहियऊ, तत्तु भेउ गुरु जानियऊ ॥ [९२]

ज्ञान को आचरण बनाने की प्रेरणा प्राय: सभी वीतरागी संतों, ज्ञानी सद्गुरुओं ने दी है। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है कि यहाँ मात्र चर्चा की नहीं, चर्या की प्रधानता है। इसलिये भारतीय परम्परा के संतों ने धर्म को इस प्रकार परिभाषित किया– **''चेतना लक्षणो धर्मो, चेतयन्ति सदा बुधै:''।**

आत्मा के चैतन्य लक्षण स्वभाव को जानना ही धर्म है। ज्ञानीजन हमेशा इसी का अनुभव करते हैं। [९३]

९१. वही, पृष्ठ– ७५
९२. श्री अध्यात्मवाणी ममलपाहुड़– ४८ /९ संपादित प्रति पृष्ठ १९९
९३. पंडित पूजा, अध्यात्म सूर्य टीका, पू. ज्ञानानंद जी महाराज भोपाल प्रकाशन सन् १९९९–५.३०

चोदनालक्षणोर्थो धर्म: ।

इह लोक और पर लोक की उन्नति जिसका प्रयोजन हो, जिसे प्रत्येक प्राणी चाहता है वह धर्म है। [९४]

यतोऽभ्युदय नि: श्रेयस सिद्धि: स धर्म: ।

जिससे जीव संसार में सुखी रहे और मोक्ष की प्राप्ति करे वह धर्म है। [९५]

विद्यैव तु निर्धारणात् ।

उस परम ब्रह्म को जान लेने से ही मुक्ति मिलती है, ब्रह्म विद्या ही मुक्ति का कारण है। [९६]

धम्मो दया विसुद्धो ।

जो दया से विशुद्ध है वही धर्म है। [९७]

आनन्दं सहजानन्दं, धम्मं ससहाव मुक्ति गमनं च ।

आनन्द सहजानन्द मयी स्व स्वभाव में रहना ही धर्म है, इसी से मुक्ति की प्राप्ति होती है। [९८]

इसी प्रकार 'चारित्तं खलु धम्मो, आचार: परमो धर्म:, अहिंसा परमो धर्म:, रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़ासम नहिं अधमाई ।

धर्म न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुराण बखाना ॥

धारणात् धर्म:

धार्यते असौ धर्म:

आदि अनेक सूत्र संत वाणी में उपलब्ध हैं, जिनका एक ही अभिप्राय है कि धर्म मात्र चर्चा परक नहीं, प्रायोगिक है।

कोई व्यक्ति मात्र शब्दों को सीखकर उनकी चर्चा करता है और यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करता है तो यह कल्याणकारी नहीं है। कहा भी है-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित: ।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैन माप्नुयात् ॥

अर्थात् जिस व्यक्ति ने अपनी बुरी आदतें नहीं छोड़ीं, जो शांत चित्त एकाग्र नहीं

---

९४. मीमांसा दर्शन - १/१/२

९५. वैदिक दर्शन १/१/२

९६. ब्रह्मसूत्र, वेदांत दर्शन- ३/२/११

९७. अष्टपाहुड़-बोधपाहुड़, गाथा २५

९८. श्री अध्यात्मवाणी उपदेश शुद्धसार, पृष्ठ ७०, संपादित प्रति २०४३

जिसका मन चारों ओर भटकता रहता है, वह मात्र ज्ञान से इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। [९९]

इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर भारत की गरिमा संपूर्ण विश्व में बनी, सारी दुनियां ने भारत को धर्म गुरु माना, जैसा कि कहा गया है-

बाञ्छन्ति देवा अपि यत्र जन्म, यस्याजिरे ब्रह्मननर्त कृष्ण ।
यो वै गुरु: सर्वे महीतलस्य, तं भारतं देशमहं नमामि ॥

आज भी पाश्चात्य संस्कृति के लोग पूरी श्रद्धा के साथ भारतीय संस्कृति के शुद्ध अध्यात्म को जानने के इच्छुक हैं।

आत्म ज्ञान से ही जीवन की शोभा है, बिना आत्म ज्ञान के कुछ भी कार्यकारी नहीं है, नीतिकार भी यही कहते हैं-

पठंतु चतुरो वेदान्, सर्व शास्त्र विशारदा: ।
आत्मज्ञानं न जानंति, दर्वीपाक रसं यथा ॥

चारों वेदों को पढ़ लो, सर्वशास्त्र पढ़कर शास्त्री और विशारद हो जाओ किन्तु आत्म ज्ञान को नहीं जानते तो समूचा ज्ञान (चटुवा) चम्मच की तरह स्वाद रहित होता है।

जैसे- चम्मच, सभी खाद्य पदार्थों में जाती है किन्तु उसे स्वाद किसी भी वस्तु का नहीं आता, इसी प्रकार अज्ञानी जीव सब कुछ जानते हुए भी ज्ञान का कुछ भी स्वाद नहीं ले पाता।

किसी अज्ञात विचारक ने इसी प्रकार का एक महत्वपूर्ण सूत्र लिखा है- [१००]

A spoon can not perceive the taste of soup but the tongue can perceive the taste of soup. similarly if a fool is associated with a wise man even all his life, he can not perceive the truth but an intelligent man can perceive the truth.

इस सूत्र में भी अज्ञात कवि विचारक यही कहना चाहता है कि जैसे चम्मच रस का स्वाद नहीं ले सकती किन्तु जिह्वा स्वाद ले सकती है। इसी प्रकार कोई अज्ञानी अपने जीवन भर भी किसी ज्ञानी के साथ रहे तो भी वह सत्य को नहीं पहिचान सकता है।

अभिप्राय यह है कि मात्र ऊपरी ज्ञान से आत्मा की अनुभूति का स्वाद

---

९९. कठोपनिषद्- १/२/२४

१००. मुनि कामकुमारनंदी जी से प्राप्त, सन् १९९८, देहरादून.

लेना संभव नहीं है इसलिये आचार्य तारण स्वामी ने कहा है कि अक्षर, स्वर, व्यंजन आदि के द्वारा अपने अजर-अमर स्वरूप का चिंतन-मनन अनुभव करो।

अष्यर सुर विजनयं, पदार्थं सुद्ध न्यान निम्मलयं।
अप्पा परमप्पानं, नन्त चतुस्टय सरूव निम्मलयं॥

अर्थ- अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद और उनका अर्थ एकमात्र शुद्ध ज्ञानमयी निर्मल आत्मा ही परमात्मा है। इस अनन्त चतुष्टयमयी निर्मल स्वरूप को जानना ही अक्षर, स्वर,व्यंजन आदि का सार है। [१०१]

इसकी प्राप्ति का मार्ग कैसे बने इसका उपाय श्री तारण स्वामी ने वैज्ञानिक विधि से स्पष्ट करते हुए शुद्ध उपभोग करने की प्रेरणा दी है।

आगम में चरणानुयोग के ग्रंथों में व्रतों के अंतर्गत भोगोपभोग परिमाण व्रत का उल्लेख आता है। शिक्षाव्रत के इस भेद को बताते हुए आचार्यों ने लिखा है कि जो वस्तु एक बार भोगने में आवे उसे भोग कहते हैं,जैसे- भोजन आदि। जो वस्तु बार-बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं। जैसे- स्त्री, गहना, आदि। [१०२]

श्री जिन तारण स्वामी ने व्यवहारिक आचरण के इस सिद्धांत को बखूबी निश्चय में सिद्ध किया। उन्होंने उपभोग के दो भेद किये-अशुद्ध उपभोग और शुद्ध उपभोग। इनमें अशुद्ध उपभोग संसार का कारण है और शुद्ध उपभोग मुक्ति का कारण है। [१०३]

उपभोग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि मन से विषय-कषाय और पापों का बार-बार विचार करना अशुद्ध उपभोग है। इस प्रकार मन से अशुद्ध उपभोग होता है। शुद्ध उपभोग के संबंध में आचार्य कहते हैं-

सुद्धं उपभोगयं जेन, मति सुति न्यान चिंतनं।
अवधि मन पर्जयं सुद्धं, केवलं भाव संजुतं॥

अर्थ- मति श्रुतज्ञान से चिंतन-मनन पूर्वक जो जीव शुद्ध उपभोग करता

१०१. श्री अध्यात्मवाणी, ज्ञान समुच्चयसार, संपादित प्रति, गाथा-९६ पृ.६३
१०२. ज्ञानानंद श्रावकाचार, ब्र. रायमल्ल जी रायपुर, दि. जैन मुमुक्षु मंडल भोपाल प्रकाशन, द्वि.सं- सन् २०००, पृ. ३४
१०३. श्री अध्यात्मवाणी, ज्ञान समुच्चयसार, आचार्य तारण स्वामी, गाथा १०१, पृष्ठ ३१

है उसी को अवधि ज्ञान, मन: पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान प्रगट होता है। [१०४]

यहां कहने का अभिप्राय यह है कि शुद्ध उपभोग बुद्धि से होता है। जिस प्रकार किसी वस्तु का बार-बार उपयोग करके जीव उपभोग करता है इसी प्रकार बुद्धि पूर्वक बार-बार हमें अपने स्वरूप का चिंतन मनन करना चाहिए। यही शुद्ध उपभोग ज्ञान उपभोग कहलाता है जो मुक्ति का कारण है। यह ज्ञान उपभोग किस प्रकार होता है, उसका उपाय बताते हुए सद्गुरु कहते हैं -

अष्यर स्वर विंजनं जेन, पद श्रुत चिंतनं सदा।
अवकासं न्यान मयं सुद्धं, उपभोगं न्यान उच्यते॥

अर्थ- जिनवाणी के अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद और वाक्यों का चिंतवन करना तथा समय निकाल कर आकाश के समान शुद्ध अपने ज्ञानमयी शुद्धात्मा का बारंबार चिंतवन करना इसी को ज्ञान का उपभोग कहा जाता है। [१०५]

आत्मज्ञान का व जिनवाणी का स्वाद लेना ही ज्ञान का उपभोग है, जो अपना हित करना चाहे उसको सदा ही जिनवाणी के अक्षर,शब्दों का पठन पाठन, चिंतन-मनन करना चाहिए। बुद्धिपूर्वक अपना निर्णय बार-बार करना चाहिए यही ज्ञान का उपभोग है। अन्यत्र भी यही कहा गया है-

धर्मामृतं सदा पेयं, दु:खातंक विनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं, जीवानां जायते सदा॥

अर्थ- आत्मार्थी जीवों को उचित है कि दु:ख रूपी रोग का नाश करने के लिए धर्म रूपी अमृत का सदैव पान करते रहना चाहिए। जिसके पान करने से जीवों को परम सुख होता है। ध्यान द्वारा आत्मज्ञान का भोग करना सर्वोत्तम है यदि चित्त न लगे तो शास्त्र द्वारा आत्मा का विचार करते रहना चाहिए; क्योंकि इन्द्रिय विषयों का उपभोग अशुद्ध उपभोग है और ज्ञान का उपभोग शुद्ध उपभोग है।

इसी चिंतन-मनन पूर्वक जो जीव मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है,आचार्य कुन्दकुन्द देव ने उसको भव्य कहा है।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं, आइरिय परंपूरेण मग्गेण।
णाऊण दुविह सुत्तं, वट्टदि सिवमग्ग जो भव्वो॥

अर्थ- सर्वज्ञ भाषित सूत्र में जो भले प्रकार कहा गया है, उसको आचार्य परंपरा रूप मार्ग से दो प्रकार के सूत्र को शब्दमय और अर्थमय जानकर मोक्षमार्ग

१०४. वही, गाथा १०२
१०५. वही, गाथा १०३

में जो प्रवर्तता है वह भव्य जीव है, मोक्ष पाने के योग्य है। [१०६]

यहां कोई कहे कि अरिहंत द्वारा भाषित और गणधर देवों से गूंथा हुआ सूत्र तो द्वादशांग रूप है, वह तो इस काल में दिखता नहीं है तब परमार्थ रूप मोक्षमार्ग कैसे सधे ? इसके समाधान के लिए ही उपरोक्त गाथा सूत्र है कि अरिहंत भाषित गणधर रचित सूत्र में जो उपदेश है उसको आचार्यों की परंपरा से जो जानते हैं तथा उसको शब्द और अर्थ के द्वारा जानकर मोक्षमार्ग को साधते हैं, वह भव्य हैं तथा मोक्ष को प्राप्त करने योग्य हैं।

आगे कहते हैं कि जिनेन्द्र भाषित सूत्र दो प्रकार के भेद वाला है उसको जानकर योगीजन सुखी रहते हैं –

जं सुत्तं जिण उत्तं ववहारे तह य जाण परमत्थो ।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मल पुंजं ॥

अर्थ– जो जिन भाषित सूत्र है वह व्यवहार रूप तथा परमार्थ रूप है, उसको योगीश्वर जानकर सुख पाते हैं और मलपुंज अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नो कर्म का क्षेपण करते हैं। [१०७]

जिन सूत्र को व्यवहार और परमार्थ रूप यथार्थतया जानकर मुनि योगीजन कर्मों का नाश करके अविनाशी सुख रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं। परमार्थ अर्थात् निश्चय और व्यवहार, इनका संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है–''जिन आगम की व्याख्या चार अनुयोग रूप शास्त्रों में दो प्रकार से सिद्ध है– एक आगम रूप, दूसरी अध्यात्म रूप। वहां सामान्य विशेष रूप से पदार्थों का निरूपण किया गया है वह आगम रूप है परंतु जहां एक आत्मा ही के आश्रय निरूपण किया गया है वह अध्यात्म रूप है।

जिनवाणी का द्वादशांग रूप जो विस्तार है उस सबका उद्देश्य एक ही है– अपने आत्म स्वरूप को जानना, स्व–पर का यथार्थ निर्णय करना।

आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है –

पूर्वं पूर्व उक्तं च, द्वादशांगं समुच्चयं।
ममात्मा अंग सार्धं च,आत्मनं परमात्मनं ॥

अर्थ– जो द्वादशांग वाणी का और पूर्वों का वर्णन किया है, उनमें प्रत्येक पूर्व और संपूर्ण जिनवाणी का सार यही है कि यद्यपि मेरी आत्मा शरीर सहित है तथापि निश्चय से यह आत्मा ही परमात्मा है यही जानना योग्य है। [१०८]

१०६. अष्टपाहुड़, सूत्र पाहुड़, गाथा– २, पृष्ठ ४०
१०७. अष्टपाहुड़, कुन्दकुन्दाचार्य, सूत्रपाहुड़– गाथा– ६
१०८.श्री अध्यात्मवाणी, ज्ञान समुच्चयसार , गाथा 76 पृ.– ३०

इसी बात को अन्यत्र भी कहा गया है–

जीवोऽन्य: पुद्गलश्चान्य: इत्यसौ तत्व संग्रह: ।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तर: ॥

अर्थ– जीव भिन्न है और पुद्गल भिन्न है, तत्त्व का सार तो इतना ही है, इसके अलावा और जो कुछ कहा जाता है, विवेचन किया जाता है वह सब इसका ही विस्तार है। [१०९]

इसी बात को इस रूप में स्मरण किया जाता है –

जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्व का सार।
और कछु व्याख्यान सो, इसका ही विस्तार ॥

'आत्मानुशासन' नामक ग्रंथ में अपने अर्थात् स्वयं के ऊपर शासन करने का उत्तम उपाय बताया है। वह उपाय है– आत्मलीनता। यह ग्रंथ शुद्ध रूप से आध्यात्मिक ग्रंथ है फिर भी उसमें अक्षर समाम्नाय की मार्मिक चर्चा की गई है। श्री गुणभद्राचार्य उस ग्रंथ के रचयिता हैं, उन्होंने लिखा है कि अक्षर समाम्नाय का चरम प्रयोजन अर्थात् अंतिम लक्ष्य परमात्म स्वरूप को प्राप्त करना है। [११०]

द्रव्यश्रुत का आधार लेकर भावश्रुत को प्रगटा लेना यही जिनवाणी का प्रयोजन है। जिनवाणी के इस द्रव्य और भावश्रुत रूप को कल्याणमंदिर स्तोत्र में श्री सिद्धसेन दिवाकर ने परमात्मा की स्तुति करते हुए बहुत कुशलता से स्पष्ट किया है, ईश की वंदना करते हुए उन्होंने लिखा है– **''किं वाक्षर प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश।''**अर्थात् अक्षर प्रकृति वाले होते हुए भी हे ईश ! तुम अलिपि भी हो और लिपि भी हो। यहां स्पष्ट रूप से भावश्रुत और द्रव्यश्रुत की ओर संकेत है। अक्षर प्रकृति का अर्थ है– द्रव्यश्रुत; और अलिपि का अर्थ है–भावश्रुत। अक्षरों से लिखे गए श्रुत साहित्य से परमात्मा प्राप्त होता है। [१११]

किसी जीव को बिना कोई अक्षर पढ़े परमात्मा मिल जाता है किन्तु यह तभी संभव है जब मन नितांत शुद्ध हो और पूर्व संस्कार प्रबल हों, इसी संदर्भ में श्री समन्तभद्राचार्य का कथन उल्लेखनीय है –

अज्ञानान्माहिनो बन्धो, नाऽज्ञानद्वीत मोहत:।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्ष: स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥

अर्थ– अज्ञान से बंध होता है यदि वह मोह सहित है किन्तु उस अज्ञान से बंध नहीं होता जो मोहरहित है, इसी भांति उस अल्पज्ञान से भी मोक्ष हो सकता

१०९. इष्टोपदेश, आचार्य पूज्यपाद, श्लोक – ५०
११०. आत्मानुशासन, गुणभद्राचार्य, सोलापुर प्रकाशन गा. १२२–१२४
१११. कल्याण मंदिर स्तोत्र, श्लोक– ३०

है जो मोहरहित है किन्तु मोह सहित अल्पज्ञान कर्म बंध का ही कारण है। [११२]

मोहरहित अल्पज्ञान भी सिद्धि मुक्ति का कारण है इस संदर्भ में शिवभूति मुनि का उदाहरण सर्वविदित है, वह इस प्रकार है –

तुसमासं घोसंतो, भाव विसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥

अर्थ– शिवभूति मुनि ने शास्त्र नहीं पढ़े थे, परन्तु तुषमाष ऐसे शब्द को रटते हुए भावों की विशुद्धता से महानुभाव होकर केवलज्ञान पाया यह प्रगट है। [११३]

यहाँ यह समझना है कि कोई जाने कि शास्त्र पढ़ने से ही सिद्धि है तो इस प्रकार भी नहीं है। शिवभूति मुनि ने तुषमाष ऐसा शब्दमात्र रटने से ही भावों की विशुद्धता से केवलज्ञान पाया। उनका प्रसंग इस प्रकार है–एक शिवभूति नामक मुनि था, उसने गुरु के पास शास्त्र पढ़े किन्तु धारणा नहीं हुई तब गुरु ने यह शब्द पढ़ाया कि **'मा रुष मा तुष'** वह इस शब्द के बारे में विचार करने लगा। इसका अर्थ है 'रोष मत कर', 'तोष मत कर' अर्थात् राग–द्वेष मत कर। शिवभूति को यह पाठ भी याद नहीं रह सका। इसमें से भी सकार और तुकार भूल गए और 'तुषमाष' इस प्रकार याद रह गया। वह उसी के विचार में संलग्न हो गये। किसी दिन एक स्त्री को उड़द की दाल धोते देखकर किसी ने उससे पूछा–तू क्या कर रही है ? स्त्री ने कहा–तुष और माष भिन्न कर रही हूँ, यह सुनकर मुनि ने 'तुषमाष' शब्द का भावार्थ यह जाना कि यह शरीर तुष के समान है और आत्मा माष अर्थात् दाल के दाने के समान है, यह दोनों छिलके और दाल की तरह भिन्न–भिन्न हैं। इस प्रकार भाव जानकर आत्मा का अनुभव करने लगा। चिन्मात्र शुद्धात्मा को जानकर उसमें लीन हुआ और घातिया कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार भावों की विशुद्धता से सिद्धि हुई, यह जानकर भाव शुद्ध करना, यह अभिप्राय है।

ऐसी स्थिति उस जीव की होती है जिसके पूर्व संस्कार प्रबल हों और नियति निकट हो। मुख्य रूप से जानना तो आत्मा को ही है यही सम्पूर्ण ज्ञान का सार है।

श्री जिन तारण स्वामी आत्मज्ञानी वीतरागी साधु थे। उन्होंने आगम के

११२. आप्तमीमांसा समंतभद्राचार्य कृत, वीर सेवामंदिर ट्रस्ट दिल्ली प्रकाशन, जून १९९७, १०/९७, पृष्ठ– १०१

११३. अष्टपाहुड़–भावपाहुड़, गाथा– ५३

सिद्धांतों की भी आध्यात्मिक रूप में साधना और सिद्धि की थी। अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद और अर्थ का जो आध्यात्मिक स्वरूप सद्गुरु तारण स्वामी ने स्पष्ट किया है वह अद्वितीय है और अन्यत्र दुर्लभ है। अक्षर के सम्बंध में वे लिखते हैं –

अष्यर अषयं रूवं, अषय पदं अषय सुद्ध सभावं ।
अषयं च ममल रूवं, ममल सहावेन निव्वुए जंति ॥

अर्थ– आत्मा का अक्षय स्वरूप ही अक्षर है। वही अक्षय पद, अक्षय शुद्ध स्वभाव है। अपना ममल स्वरूप ही त्रिकाल शाश्वत अक्षय स्वरूप है। इसी ममल स्वभाव के आश्रय से योगीजन निर्वाण को प्राप्त करते हैं। [११४]

न्यानं अष्यर सुरयं, न्यानं संसार सरनि मुक्कं च।
अन्यान मिच्छ सहियं, न्यानं आवरन नरय वासम्मि ॥

अर्थ– ज्ञान स्वभाव जो अक्षर स्वरूप है, इसकी सुरत रखो, स्मरण ध्यान रखो यह ज्ञान ही संसार के भ्रमण से छुड़ाने वाला है; परन्तु यदि अज्ञान मिथ्यात्व सहित इस ज्ञान स्वभाव पर आवरण डालते हो तो नरक में वास करना पड़ेगा। [११५]

जिसका कभी नाश नहीं होता वह अक्षर अपना ही ज्ञान स्वभाव है, श्री कमल बत्तीसी ग्रंथ में पंचम ज्ञान केवलज्ञान को अक्षर कहा है–

जिनं च परम जिनयं, न्यानं पंचामि अषिरं जोयं।
न्यानेन न्यान विर्धं, ममल सुभावेन सिद्धि संपत्तं ॥

अर्थ– पंचम ज्ञान ही अक्षर स्वभाव है इसी को संजोओ, यही जिन और परम जिन स्वरूप है इसी को जीतो अर्थात् प्राप्त करो क्योंकि ज्ञान स्वभाव की साधना से ज्ञान से ज्ञान बढ़ता है, ममल स्वभाव में रहने से सिद्धि की संपत्ति प्राप्त होती है। [११६]

षट्खंडागम में भी केवलज्ञान को अक्षर कहा गया है यथा–

''क्षरणभावा अक्खरं केवलणाणं''

क्षरण अर्थात् विनाश का अभाव होने से केवलज्ञान अक्षर कहलाता है।[११७]

योगानुशासन में लिखा है– अक्षर पुरुष वही है जो आत्मा के अमृत स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ हो। अक्षर वही है जो आत्म ब्रह्म से अनहदनाद की तरह गूंजे अर्थात् दिव्यवाणी बन सके क्योंकि तीर्थंकरों की वाणी को दिव्यवाणी

११४. श्री अध्यात्मवाणी, संपादित प्रति, उपदेश शुद्ध सार गाथा– ३२६, पृ.– ८३

११५. वही, गाथा– ३२७, पृ.– ८३

११६. कमलबत्तीसी गाथा– १२ पृ.– ४

११७. षट्खंडागम, खण्ड–१, जीवस्थान पृ.– ११

ही कहा जाता है। [११८]

इस प्रकार अक्षर अपना अक्षय स्वभाव ही है। आचार्य श्री जिन तारण स्वामी स्वर के संबंध में श्री उपदेश शुद्ध सार ग्रंथ में लिखते हैं–

सुरं च सुयं सरूवं, सुरं च सुद्ध समय संजुत्तं।
जे जनरंजन सहियं, न्यानं आवरन थावरं पत्तं॥ ३२८॥
सुरं च सुयं सुलष्यं, अलषं लषियं च सुरं ससहावं।
जइ कलरंजन विषयं, न्यानं आवरन नरय वीयम्मि॥ ३२९॥
सुरं च सुद्ध उवन्नं, सुरं च षिपियो हि सुयं कम्मानं।
मनरंजन गारव सहियं, न्यानं आवरन थावरं वीयं॥ ३३०॥

अर्थ– सूर्य के समान पूर्ण प्रकाशमान वीतराग स्वभाव स्वयं का ही आत्म स्वरूप है। इसी सूर्य सम पूर्ण शुद्ध स्वसमय शुद्धात्मा में लीन रहो। यदि इसमें लीन नहीं रहते और जनरंजन राग सहित होते हो तो ज्ञान स्वभाव पर कर्मों का आवरण डालकर स्थावर गति के पात्र बनोगे।

उस स्वाभाविक सूर्य सम ज्ञान का स्वयं ही प्रकाश होता है। यही अपना अलष अर्थात् इंद्रियों से जानने में नहीं आने वाला स्वभाव है, सूर्य के समान अपना स्वभाव है इसी को लखो अर्थात् इसी में रहो। यदि अपने इस स्वभाव में नहीं रहते और शरीराश्रित होकर विषयों में रंजायमान होते हो, कलरंजन में उलझते हो तो अपने ज्ञान स्वभाव पर कर्मों का आवरण डालकर नरक में जाने का बीज बोते हो।

सूर्य के समान जब निर्मल ज्ञान प्रगट होता है, तब उस ज्ञान सूर्य के पूर्ण प्रकाश होते ही कर्म स्वयं ही निर्जरित क्षय हो जाते हैं अर्थात् केवलज्ञान के प्रगट होते ही चारों घातिया कर्मक्षय हो जाते हैं। यदि साधक मनरंजन गारव सहित होता है अर्थात् मन प्रसन्न रहे ऐसे क्रियाकलाप करता है तो ज्ञान स्वभाव पर कर्मों का आवरण डालकर स्थावर पर्याय में जाने का बीज बोता है अर्थात् अपने स्वभाव को भूलकर स्थावर पर्याय मे जाने रूप कर्मों का बंध करता है।[११९]

इस प्रकार स्वर अर्थात् सूर्य के समान पूर्ण ज्ञान स्वभाव है। स्वर के पश्चात् व्यंजन के लिए कहते हैं –

विंजन सहाव विन्यानं, विन्यानं जानंति अलष लष्यं च।
न्यानहीन पञ्जावं, न्यानं आवरन दुग्गए पत्तं॥

११८. योगानुशीलन, कैलाशचंद्र वाड़दार, महावीर जी प्रकाशन, पृ. ३८८–८९
११९. श्री अध्यात्मवाणी, संपादित प्रति, उपदेश शुद्ध सार, गाथा ३२८–३३० पृ.– ८३–८४

विंजन विन्यान जनयं, लोकं अवलोक लोकनं सुद्धं।
जइ पज्जाव संजुत्तं, न्यानं आवरन दुग्गए पत्तं॥

अर्थ– विज्ञान स्वभाव को व्यंजन कहते हैं क्योंकि यह अपने में पूर्णपने व्यक्त है। यह विज्ञान ही अलष स्वभाव की अनुभूति को जानता है। जो जीव ज्ञानहीन होकर पर्याय में रत रहते हैं, वे ज्ञानावरण कर्म का बंध करके दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।

यह पूर्णपने प्रगट स्वरूप व्यंजन स्वभाव निज कारण परमात्मा ही पूर्ण ज्ञान विज्ञान का जनक है अर्थात् इसी के आश्रय से पूर्ण ज्ञान पर्याय में प्रगट होता है, कार्य परमात्मा हो जाता है और शुद्ध रूप से समस्त लोकालोक को जानता है, देखता है परंतु जो जीव पर्याय में संयुक्त होता है, अपने स्वभाव का विस्मरण करता है, वह ज्ञान पर आवरण डालकर दुर्गति का पात्र हो जाता है। [१२०]

इस विषय का उपसंहार करते हुए सार रूप में सूत्र कहते हैं –

अष्यर सुर विंजनयं, पदं च परम तत्त परमिस्टी।
पद लोपन पज्जावं, न्यानं आवरन नरय गइ सहियं॥

अर्थ– अक्षर स्वरूप अविनाशी स्वभाव, स्वर अर्थात् सूर्य समान पूर्ण प्रकाशमान ज्ञान स्वरूप, व्यंजन अर्थात् अनादि अनंत एक रूप रहने वाला श्रेष्ठ प्रगट परमात्म स्वरूप, पद अर्थात् सिद्ध शुद्ध पद अपना परमतत्त्व परमेष्ठी स्वरूप है, यही आश्रयभूत शरण लेने योग्य उपादेय है। जो जीव अपने अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद स्वरूप परम तत्त्व को भूलकर, अपने पद का लोपन कर पर्याय में रत रहता है वह जीव ज्ञान स्वभाव पर कर्म का आवरण डालकर नरक गति में जाने रूप कर्मों का बंध कर लेता है। [१२१]

'ममल पाहुड़' ग्रंथ ३२०० गाथाओं में निबद्ध है इसके रचयिता आचार्य श्री जिन तारण स्वामी हैं। इस ग्रंथ में आत्म साधना की अनेकों अनुभूतियों को श्री गुरु ने फूलनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है। इसी ग्रंथ के ६५ वें ॐ लखनो फूलना में अक्षर आदि के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट किया है वह इस प्रकार है–

अष्यर रमनह अषय पउत्तु, सुर रमनह है सिद्धि संजुत्तु।
विन्यान रमन तं ममल पउ॥
विंजन सहियौ विनय स उत्तु, पय उत्पन्न जु शब्द संजुत्तु।
शब्द सहावे ममल पउ॥

१२०. वही, गाथा– ३३३, ३३४, पृ.– ८४
१२१. वही, गाथा – ३३५, पृष्ठ– ८४

अर्थ– अपने अक्षय पद में रमण कर अक्षर (अविनाशी) स्वरूप को प्राप्त करो। स्वर अर्थात् सूर्य समान स्वभाव में रमण करना ही सिद्धि से संयुक्त होना है। विज्ञान स्वरूप में रमण करना ही ममल पद है। व्यंजन अर्थात् अपने प्रगट स्वरूप सहित रहो यही अक्षर, स्वर, व्यंजन जिन वचनों की सच्ची विनय कही गई है। जैसे अक्षरों से मिलकर पद बनता है उसी तरह जिन वचनों से संयुक्त होने पर ही शुद्ध सिद्ध पद उत्पन्न होगा। इन शब्दों के सहारे अपने ममल पद निज स्वभाव में लीन रहो। [१२२]

अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद यह सब शब्द कोष के अनुसार ज्ञान के वाचक हैं। शब्द तो पुद्गल हैं, वे पुरुष के निमित्त से वर्ण, पद ,वाक्य रूप से परिणमित होते हैं इसलिए उनमें वस्तु स्वरूप का कथन करने की शक्ति स्वयमेव है क्योंकि शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक संबंध है।

यहां आचार्य श्री तारण स्वामी यह कहना चाहते हैं कि अक्षर, स्वर, व्यंजन जिस अमूर्तीक आत्मा ज्ञान स्वरूप के वाचक हैं, हमें उस तत्त्व की पहिचान अनुभूति करना है तभी अक्षर आदि की सार्थकता है। यदि मूल आत्म स्वभाव का लक्ष्य भूलकर मात्र शब्दावली में ही अटककर रह जायेंगे तो वस्तु तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी।

साधन, साध्य की सिद्धि के लिए होता है, जो व्यक्ति साधन को ही साध्य मान ले वह लक्ष्य च्युत होने से साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता। इसलिए अत्यंत सावधानी पूर्वक अपने अविनाशी स्वभाव की साधना आराधना कर मुक्ति का मार्ग बनाना है। सद्गुरु तारण स्वामी ने इसी कारण ॐ नम: सिद्धम् से प्रारंभ होने वाली शब्दावली का आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट करके यह सिद्ध कर दिया है कि शिक्षा का उद्देश्य मात्र लौकिक स्तर पर ही पूर्ण नहीं हो जाता बल्कि पूर्ण अध्यात्म को प्राप्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

यह वास्तविकता है कि शिक्षा वही कार्यकारी और कल्याणकारी है जो अपने आंतरिक लक्ष्य की प्राप्ति में सहयोगी साधन हो।

❀❀❀

१२२. वही, ममल पाहुड़ जी, फूलना ६५, गाथा ९– पृष्ठ २२७

ॐ नम: सिद्धम् की अपभ्रष्टता का कारण एवं ऐतिहासिक स्मरण

प्राचीनकाल से मध्यकाल तक का इतिहास है कि बच्चों को बारहखड़ी का ज्ञान कराते समय सबसे पहले 'ॐ नम: सिद्धम्' कहना होता था। ऐसी परंपरा थी कि सभी धर्म, पंथ, मत और संप्रदाय के बच्चे 'ॐ नम: सिद्धम्' कहकर विद्यारंभ किया करते थे। आगे चलकर इस मंगलमय नमस्कार सूत्र को जैन और बौद्धों से जोड़कर देखा जाने लगा। फलत: अन्य बालक 'ॐ गणेशाय नम:' कहने लगे। यहां तक ही नहीं, ॐ नम: सिद्धम् का उच्चारण विकृत हो गया। पहले 'ओ ना मा सी ध म्' हुआ फिर 'ओ ना मा सी ध म् बाप पढे न हम' हो गया। कातंत्र व्याकरण विमर्श की भूमिका में डा. भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी ने इस संदर्भ में विशेष लिखा है वह दृष्टव्य है–

''ततो राजस्थान प्रदेशेषु भूरि प्रचारस्यास्य सूत्राणां पाठो जातो अपभ्रष्ट:। स च तत्र पाटी इत्याख्ययाख्यायते। गवेषकेणेह गवेष्य प्रबन्धे तत्रोपलब्धस्य पाटी क्रमस्य यथास्थानं विहित: समुल्लेख:। राजस्थान संसक्ते बुंदेलखंडे बालकानामक्षरारम्भ समये'' 'ओ ना मा सी ध म्' इति कातंत्र व्याकरण परंपरा प्रचलितस्य 'ॐ नम: सिद्धम्' इत्यस्यापभ्रष्टं नमस्कारात्मकं मंगलमुच्चार्यते। परतश्चापभ्रष्ट पाठस्यानुपयोगिता विभाव्य लोकतो भ्रष्ट: व्याकरणस्यास्य परंपरा बुंदेलखंडे चापभ्रष्टं नमस्कारात्मकंमंगलमुपहासतया स्मर्तुमारब्धं''।

जिस 'ॐ नम: सिद्धम्' का अत्यधिक प्रचार था उसका पाठ राजस्थान प्रदेश में अपभ्रष्ट हो गया, वहाँ वह पाटी नाम से ख्यात हुआ। कातंत्र व्याकरण विमर्श में इसका उल्लेख किया गया है। राजस्थान से मिला हुआ बुन्देलखण्ड है, वहाँ बालकों को अक्षरारम्भ के समय मंगल वाक्य 'ॐ नम: सिद्धम्' ओ ना मा सी ध म् के रूप में अपभ्रष्ट हो गया और कातंत्र व्याकरण की प्रचलित परम्परा नष्ट हो गई, इस कारण लोगों ने इसकी अनुपयोगिता मान ली और आगे चलकर तो यह उपहासता को प्राप्त हो गया। [१२३]

यह ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण बताते हुए विद्वान लेखक डॉ. प्रेमसागर जैन ने लिखा है–''मेरी दृष्टि में ॐ नम: सिद्धम् का ओ ना मा सी ध म मुख सौकर्य के कारण हुआ। उच्चारणों की आसानी ने ही समास प्रधान भाषाओं को व्यास प्रधान बनाया। इसे विज्ञान का छात्र भलीभांति जानता है। जहां तक उपहासता

१२३. कातंत्र व्याकरण विमर्श, भूमिका पृ.– ई.

का संबंध है अर्थात् 'ओ ना मा सी ध म्' बाप बढ़े ना हम 'वह ऐसा ही साम्प्रदायिक विद्वेष या जिसके कारण बुद्ध का बुद्धू ,भद्र का भद्दा बना। यह साम्प्रदायिक विद्वेष ही था जिससे प्रियदर्शी का मूर्ख हो गया और संस्कृत प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक के अनुसार बिम्बसार की पत्नि चेलना जो कट्टर जैन धर्मावलंबी थी, उसको 'छलना' नाम से पुकारा जाने लगा। भाषा विज्ञान के इन बदलते पहलुओं का अध्ययन एक ओर रुचिकर है तो दूसरी ओर तत्कालीन हवा पानी के समझने में भी सहायक है। ॐ नम: सिद्धम् भी इस बदलती जलवायु का शिकार बना। [१२४]

इसी बात की पुष्टि महात्मा भगवान दीन द्वारा लिखित लेख– 'शिक्षा का स्वरूप' से भी होती है। इस संबंध में उनने लिखा है– कातंत्र व्याकरण का प्रथम सूत्र ''स्वयं सिद्धवर्ण समाम्नाय :'' भी आगे चलकर अपभ्रष्ट हो गया और बालक, वर्णमाला सीखते समय पहले 'सरदा वरना सवा मनाया' कहने लगे। स्वयं सिद्धम् वर्ण को 'सरदा वरना' और समाम्नाय: को 'सवा मनाया' कहने लगे। मुख सौकर्य की यह प्रक्रिया सदैव चलती रही है। अत: स्वयं सिद्धम् वर्ण समाम्नाय: का सरदा वरना सवा मनाया परम्परानुकूल ही है, अर्थ उसका वही है।[१२५]

ऐसा ही एक समय था जब सैकड़ों वर्ष की मंगल परम्परा 'ॐ नम: सिद्धम्' को विकृत बना दिया गया। फिर भी ऐसे अनेकों उद्धरण हैं जिनसे 'ॐ नम: सिद्धम्' की प्राचीनता प्रमाणित होती है। इस संबंध में आदिनाथ प्रभु ने ब्राह्मी सुंदरी को लिपि और अंक विद्या की शिक्षा दी वह इस मंत्र के साथ प्रारंभ की गई थी ''सिद्धम् नम: इति व्यक्त मंगलां सिद्ध मातृकाम्''[१२६]

इस प्रकार अनेकों तथ्यात्मक प्रमाणों का उल्लेख ॐ नम: सिद्धम् के संबंध में किया जा चुका है। महावीर भगवान ने भी दीक्षा के समय इस मंत्र का उच्चारण किया था, वह प्रसंग इस प्रकार है –

''अहिंसा के अग्रदूत वर्द्धमान महावीर ने उनतीसवें वर्ष में प्रवेश किया, यह वर्ष उनके जीवन का सबसे अधिक क्रांतिकारी वर्ष था। इसमें उनकी आस्था और संकल्प शक्ति पकी तथा साधना ने प्रखर रूप धारण किया, उनका चित्त भवसागर के तट पर चरम सत्य की खोज कर रहा था। उत्तरोत्तर उनका मन मोक्ष की दुर्द्धर साधना के लिए तैयार हो गया था। इस साधना के सम्मुख सांसारिक सुख उन्हें अकिंचन लगते थे उनका अंत:करण एक अपूर्व आनंद से झंकृत था। सारे व्यवधान अमंगल, कोलाहल, मोह और बंधन शिथिल तथा शांत हो गए थे,

१२४. ओ ना मा सी ध म, डा. प्रेमसागर जैन, दिल्ली प्रकाशन, पृ. ६४–६५
१२५. शिक्षा का स्वरूप, महात्मा भगवानदीन, वीर शिक्षा विशेषांक, सन् १९६१ पृ. १२
१२६. महापुराण, सर्ग १६/१०५

उन्हें लग रहा था जैसे उनके पांव स्वयमेव किसी विलक्षण सत्ता की ओर बढ़े जा रहे हैं; और इस तरह मगसिर वदी दसमी को तीस वर्ष की आयु में ''ओम् नम: सिद्धम्'' की अनुगूंज के साथ उनकी आध्यात्मिक यात्रा प्रारंभ हो गई। [१२७]

आर्यिका श्री ज्ञानमती जी ने 'जैन भारती' नामक ग्रंथ के प्रथमानुयोग विभाग में भगवान महावीर स्वामी के जीवन परिचय के अंतर्गत लिखा है–

''इस प्रकार से तीस वर्ष का कुमारकाल व्यतीत हो जाने के बाद एक दिन स्वयं ही भगवान को जाति स्मरण हो जाने से वैराग्य हो गया। उसी समय स्तुति पढ़ते हुए लौकांतिक देवों ने आकर पूजा की। देवों द्वारा लाई गई चन्द्रप्रभा पालकी पर भगवान को विराजमान करके उस पालकी को पहले भूमिगोचरी राजाओं ने फिर विद्याधर राजाओं ने और फिर इंद्रों ने उठाया और वे 'षण्ड' नामक वन में ले गए, वहां रत्नमयी बड़ी शिला पर उत्तर की ओर मुंह करके बेला का नियम लेकर विराजमान हो गए और आभरणों का त्याग कर पंचमुष्टि लोंच करके 'ॐ नम: सिद्धम्' कहते हुए जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। [१२८]

प्रथमानुयोग के ग्रंथों में श्रीपाल– मैनासुंदरी की कथा बहुप्रचलित है। श्री कोटिभट श्रीपाल नामक पुराण में कथन है कि श्रीपाल ने सहस्रकूट चैत्यालय के वज्रसम कपाट 'ॐ नम: सिद्धम्' कहते हुए खोल दिये थे, संक्षिप्त प्रसंग इस प्रकार है–

'हंसद्वीप के राजा कनककेतु एवं उनकी पत्नी कंचनमाला आनंद पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनके दो पुत्र और एक पुत्री थी। जब पुत्री के विवाह की राजा को चिंता हुई तब उसने किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिराज से इस संबंध में पूछा। मुनिराज ने कहा कि जो पुरुष सहस्रकूट चैत्यालय के वज्र समान प्रचण्ड द्वार को खोलने में समर्थ होगा वह तुम्हारी कन्या रयनमंजूषा का योग्य पति होगा। राजा प्रसन्न हुआ, और घर आकर सहस्रकूट चैत्यालय के द्वार पर पहरेदार बिठाये तथा द्वार खोलने वाले का सत्कार करने एवं राजा को सूचना देने की आज्ञा दी।

संयोगवश धवल सेठ हंसद्वीप के तट के समीप पहुँचा। उसने वहां हाजी बेड़े को रोका, द्वीप को देखने की इच्छा थी कि संभवत: कोई व्यापारिक केन्द्र हो। धवल सेठ के साथ श्री पाल भी समुद्र यात्रा पर थे वे भी द्वीप पर उतरे। स्वर्णमय चैत्यालय देखा, वहाँ पहुँचे और पहरेदारों से किवाड़ बन्द होने का कारण पूछा। पहरेदारों ने निवेदन किया कि हे देव ! इस मंदिर के द्वार वज्र के बने हुए हैं,

१२७. नवभारत, निर्वाणोत्सव दीपावली विशेषांक, सुनील जैन, नागपुर प्रकाशन, १९९३
१२८. जैन भारती, आर्यिका ज्ञानमती, हस्तिनापुर प्रकाशन १९८२, पृ. ६९

इनका निर्माण शक्ति परीक्षण के लिये कराया गया है। कितने ही योद्धा शूरवीर आए परंतु इन्हें कोई भी नहीं खोल सका। इन्हें खोलने के लिए अतुलनीय बल विक्रम की परम आवश्यकता है। कितने ही वीरों ने शक्ति की परीक्षा के लिए अपना बल लगाया परंतु अंत में निराश होकर वे वापिस चले गए। द्वारपालों की बातों को सुनकर श्रीपाल मन ही मन मुस्कराए। उन्होंने कार्य सिद्धि के लिए मन ही मन सिद्ध प्रभु का आराधन किया, तदनंतर किवाड़ों को खोलने के लिए ज्यों ही अपना हाथ लगाया, त्यों ही प्रचंड ध्वनि के साथ वज्र कपाट खुल गए। जो वहां पहरेदार नियुक्त थे उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। कुछ पहरेदार श्रीपाल का सम्मान करने वहीं रुके रहे और कुछ अन्य ने राजा को इस बात की सूचना दी। उन्होंने राजा से निवेदन किया 'हे महाराज ! एक अत्यंत रूपवान, गुणवान एवं अनेक उत्तमोत्तम शुभ लक्षणों से युक्त महापुरुष सहस्रकूट चैत्यालय के द्वार पर आया है। उस समय हम लोग वहां पहरा देने के लिए नियुक्त थे। पहले तो उसने हम लोगों से किवाड़ बंद रहने का कारण पूछा फिर हमारे उत्तर से प्रसन्न होकर ''ॐ नम: सिद्धम्'' कहते हुए द्वार पर हाथ लगाया एवं अपने हाथ के स्पर्श मात्र से वज्र कपाट को खोल दिया। [१२९]

इनके अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक स्मरण हैं जो 'ॐ नम: सिद्धम्' के महत्व को प्रतिपादित करते हैं, जैसे–

महाराष्ट्र प्रांत में वर्णमाला तथा अंकलिपि का प्रकाशन हो रहा है उन सभी अंकों में सर्वप्रथम 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र का उल्लेख किया गया है। इस पवित्र मंत्र के स्मरण के साथ ही वर्णमाला और अंकलिपि को प्रारंभ करने की प्रेरणा दी गई है। [१३०]

मध्य एशिया की खुदाई में मिले साहित्य में एक 'सिद्धि रस्तु' ग्रंथ भी है। यह वहाँ के बौद्ध मठों और जैन आश्रमों में बिना किसी धर्म और सम्प्रदाय के भेदभाव के पढ़ाया जाता था। इस ग्रंथ का नाम 'सिद्धिरस्तु 'सिद्ध प्रकरण' तथा 'सिद्ध पिटक' केवल इसलिये पड़ा कि इसका शुभारंभ ' ॐ नम: सिद्धम्' से होता था। यहाँ तक कि वर्णमाला को भी सिद्ध वर्णमाला कहा जाने लगा। आगे चलकर विश्व भर में लोकप्रिय कातंत्र व्याकरण का पहला सूत्र ही सिद्धो वर्ण समाम्नाय: है इसकी प्रसिद्धि हुई। वर्ण समाम्नाय के साथ जुड़ा सिद्ध शब्द 'ॐ

१२९. कोटिभट श्रीपाल, लेखक स्व. पंडित परिमल्लजी, जैन पुस्तक भवन १६१/१ महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता प्रकाशन, पृ. ७४

१३०. नवनीत वर्णमाला पहाड़ा एवं अंकलिपि, महाराष्ट्र प्रकाशन।

नम: सिद्धम्' के महत्व को ही प्रतिपादित करता है। [१३१]

श्री पण्डित जयचंद जी छावड़ा कृत द्रव्यसंग्रह की देश वचनिका पद्यानुवाद सहित ढूंढारी भाषा में की गई है। टीका के प्रारंभ में पण्डित जी ने 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र लिखा है। यह टीका ग्रंथ लगभग १६५ वर्ष प्राचीन है व इसका सम्पादन स्व. पंडित दरबारीलाल जी कोठिया द्वारा किया गया है। ''[१३२]

आचार्य योगीन्दुदेव कृत योगसार ग्रंथ का उल्था स्वानुभव दर्पण के नाम से प्रकाशित हो गया है, इसकी वि.संवत् १९७३ की हस्त लिखित प्रति फुटेरा जिला दमोह से प्राप्त हुई है, इस प्रति का प्रारंभ 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र से हुआ है। [१३३]

वर्तमान में भी श्री दिगम्बर जैन टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय के प्राचार्य पंडित रतनचंद भारिल्ल द्वारा 'संस्कार' नामक पुस्तक लिखी गई है, उसके मुख पृष्ठ पर श्री भारिल्ल जी ने शिक्षण कक्षा में बैठे हुए बच्चों को शिक्षक द्वारा ब्लैक बोर्ड पर ॐ नम: सिद्धम् लिखते और बच्चों को पढ़ाते हुए बताया है। इससे भी प्राचीन समय में 'ॐ नम: सिद्धम्' की शिक्षण व्यवस्था का महत्व प्रकाशित होता है।[१३४]

तारण तरण जैन समाज में झंझाभक्ति के लिए गाये जाने वाले पुराने १२५ भजनों का प्रकाशन सिंगोड़ी निवासी पंडित श्री मुन्नालाल जी गोयलीय ने 'समय विभाग जैन तार भजनावली' के नाम से कराया था। इस कृति के प्रारंभ में भी 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र को विराजित किया गया है। यह प्रकाशन वि.सं.१९८० में हुआ था। जैनाचार्य श्री वसुनंदि महाराज द्वारा सृजित तत्त्व विचार सार नामक ग्रंथ के आद्य वक्तव्य का प्रारंभ मुनि मार्दव सागर जी ने ॐ नम: सिद्धम् से ही किया है। यह ग्रंथ दिगंबर जैन समाज छिंदवाड़ा द्वारा प्रकाशित किया गया है। बाबू वीरसिंह जैनी दिगम्बर जैन पुस्तकालय इटावा से वीर सम्वत् २४३३ में प्रकाशित रक्षाबंधन कथा के मंगलाचरण–वन्दों वीर जिनेश पद .... के पूर्व–'ओं नम: सिद्धम्' मंत्र लिखा गया है। 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र के पश्चात् कथा का प्रारंभ हुआ है। [१३५]

१३१. कातंत्र व्याकरण का विदेशों में प्रचार, जैन हितैषी, श्री पं. नाथूराम प्रेमी संपादित, पृष्ठ ६८–७०

१३२. गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला वाराणसी – १६ वां पुष्प, सन् १९६६

१३३. स्वानुभव दर्पण, वि. संवत् १९७३

१३४. संस्कार, पं. रतनचंद भारिल्ल, जयपुर

१३५. रक्षाबंधन कथा, दि. जैन पुस्तकालय इटावा, वीर संवत् २४३३

दिल्ली के निकटस्थ गाजियाबाद में बाल ब्र. श्री कौशल जी के निर्देशन में श्री ऋषभांचल योग ध्यान केन्द्र संचालित हो रहा है, वहाँ श्री प्रकाश जैन द्वारा रचित आदीश अर्चना में ''नम: सिद्धम्, नम: सिद्धम्, नम: सिद्धम्'' तीन बार उल्लेख किया गया है।[१३६]

आचार्य श्री जिन तारण स्वामी कृत ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ की ब्र. श्री शीतल प्रसाद जी द्वारा की गई टीका का प्रकाशन सागर से हुआ है, इस ग्रंथ में ग्रंथ के शुभारंभ के प्रथम पृष्ठ पर 'ॐ नम: सिद्धम्'मंत्र दिया गया है। इस मंगलमय मंत्र की महिमा ग्रंथ शुभारंभ के पूर्व हुई है। ग्रंथ में पृष्ठ ३३२-३३४ पर तो 'ॐ नम: सिद्धम्' की विस्तृत व्याख्या की गई है। [१३७]

प्राचीनकाल में पट्टी हो या शिलापट्ट हो इन पर ॐ नम: सिद्धम् या ॐ नम: सिद्धेभ्य: कहना और लिखना मंगलकारक माना जाता था।

''भारतीयों का लिपिज्ञान'' नामक लेख साहित्याचार्य मग द्वारा लिखा गया है, उनने यहाँ तक कहा है कि ब्राह्मी लिपि में जो भी शिलालेख लिखा गया, प्राय: उसका प्रारंभ 'ॐ नम: सिद्धम्' से ही किया गया। [१३८]

जयतु जय शुद्ध सिद्ध भगवान

''ॐ नम: सिद्धम्''मंत्र में जिस सिद्ध को नमस्कार किया गया है अनेकानेक जैन ग्रंथों में उसका वर्णन मिलता है। अपनी भाषा में सिद्ध के बारे में कहा जाए तो सिद्ध वह है जो समस्त कर्मों से मुक्त हो गया है अर्थात् जिसमें राग-द्वेष तिल तुष मात्र भी नहीं बचा है। राग-द्वेष ही भव बीजांकुर है और यही नाना प्रकार के कर्मों को उपार्जित करने में मूल कारण है उसके पूर्णतया समाप्त हो जाने पर जीव आत्मा सिद्ध हो जाता है। आचार्य समंतभद्र महाराज ने लिखा है -

स्व दोष मूलं स्व समाधि-तेजसा,
निनाय यो निर्दय भस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्वं जगतेऽर्थिनेन्जसा,
वभूव च ब्रह्म-पदामृतेश्वर: ॥

---

१३६. आदीश अर्चना, प्रकाश जैन, ऋषभांचल ध्यान केन्द्र गाजियाबाद प्रकाशन

१३७. न्यान समुच्चय सार आचार्य तारण स्वामी, ब्र. शीतल प्रसाद जी कृत टीका श्री तारण तरण चैत्यालय ट्रस्ट कमेटी सागर प्रकाशन १९९६ तृ. सं.

१३८. गंगापुरातत्वांक, महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन संपादित, १९३३, पृ.१९५

अर्थ- जिन्होंने अपने आत्म दोषों को, अपने समाधि तेज से कठोरता पूर्वक भस्म कर दिया। तत्त्व अभिलाषी जीवों को तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया और अमृतेश्वर होकर ब्रह्म पद पर आरूढ़ हो गये। [१३९]

कैसे हैं वे सिद्ध परमात्मा ?

जिन्होंने अपने आत्म स्वरूप मे लीन होकर घातिया और अघातिया समस्त कर्म मल को धो दिया है। जैसे सोलहवान का शुद्ध स्वर्ण अंतिम बार की आँच पर पकाया हुआ निष्पन्न होता है, इसी प्रकार अपनी स्वच्छत्व शक्ति से जिनका स्वरूप पूर्ण दैदीप्यमान प्रगट हुआ है। इसी प्रकार आत्म ध्यान रूपी अग्नि में जिन्होंने समस्त कर्म आदि अशुद्धि का नाश करके आत्मा की पूर्ण शुद्धता को प्रगट कर लिया है वे सिद्ध परमात्मा हैं।

एक-एक सिद्ध की अवगाहना में अनंत सिद्ध अलग-अलग अपनी सत्ता सहित स्थित हैं, कोई भी सिद्ध परमात्मा एक दूसरे में मिलते नहीं हैं। वे परम पवित्र हैं तथा स्वयं सिद्ध हैं और अपने आत्मीक स्वभाव में लीन हैं। वे प्रभु अतीन्द्रिय अनुपम, बाधा रहित निराकुलित स्वरस को अखंड रूप से पीते हैं, उसमें अंतर नहीं पड़ता।

असंख्यात प्रदेशी चैतन्य धातुमय विज्ञान घन स्वरूप को वे परमात्मा धारण करते हैं। अपने ज्ञायक स्वभाव को जिन्होंने प्रगट किया है तथा समय-समय षट् प्रकार हानि वृद्धि रूप अनंत अगुरूलघु रूप परिणमन करते हैं। अनंतानंत आत्मीक सुख को आचरते हैं तथा अंतर में निर्विकल्प आनंद रस का आस्वादन करते हुए अत्यंत तृप्त होते हैं। अब इन्हें कुछ भी इच्छा नहीं रही क्योंकि मोहनीय कर्म का उन्होंने सर्वथा अभाव कर दिया है। जो कार्य करना था उसे कर चुके हैं, इस प्रकार वे कृत-कृत्य हैं।

ज्ञानामृत से जिनका स्वभाव झरता अर्थात् द्रवित होता है और स्वसंवेदन से जिसमें परम आनंद की धारायें उछलती रहती हैं तथा अपने स्वभाव में लीन होती हैं अथवा यह कहें कि जैसे शकर की डली जल में गल जाती है, उसी प्रकार सिद्ध परमात्मा का उपयोग अपने स्वभाव में पूर्णतया तन्मय अभेद हो गया है। उनकी निज परिणति स्वभाव में रमण कर रही है। उन्होंने पर परिणति से भिन्न अपने ज्ञान स्वभाव में प्रवेश किया है, वर्तमान में वे नित्य ज्ञान परिणति स्वरूप हैं। ज्ञान में और परिणति में कोई भेद नही है ऐसा अद्भुत अभेदपना सिद्ध परमात्मा को वर्तता है।

---

१३९. स्वयंभू स्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र, १/४

जिनका स्वभाव अत्यंत गंभीर,उदार एवं उत्कृष्ट है। निराकुलित, अनुपम, बाधा रहित, स्वरूप से परिपूर्ण है तथा ज्ञान और आनंद मयी स्वभाव में आल्हादित हैं, सुख स्वभाव में मग्न हैं, अजर, अमर,अखंड अविनाशी हैं, निर्मल हैं तथा परम उत्कृष्ट चेतना स्वरूप शुद्ध ज्ञान की मूर्ति हैं। ज्ञायक हैं, वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं। द्रव्य गुण पर्याय सहित त्रिकाल संबंधी सर्वचराचर पदार्थों को एक समय में युगपत् जानते हैं तथा सहजानंद स्वरूप सर्व कल्याण के पुंज हैं वे परमात्मा तीनों लोक में पूज्य हैं।[१४०]

सिद्ध परमात्मा पूर्ण शुद्ध आत्मा होते हैं। तीनो प्रकार के कर्मों का अभाव हो जाने से उन्हें आत्मा की पूर्ण शक्तियाँ प्रकाशमान हो गई हैं। नो कर्म के अभाव होने से वे अशरीरी हैं। भाव कर्म के अभाव होने से वे मोह राग द्वेषादि से रहित अपने पूर्ण शुद्ध स्वभाव में लीन हैं तथा द्रव्य कर्म का अभाव होने से अनंत गुण शुद्धपने प्रगट हो गये हैं। जैसा कि कहा गया है–

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता॥

अर्थ– सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, अंतिम शरीर से कुछ न्यून (कम) आकार वाले हैं, लोक के अग्र भाग में स्थित हैं, नित्य हैं और उत्पाद–व्यय से युक्त हैं।[१४१]

आठ कर्मों का अभाव होने पर सिद्ध भगवान को आठ गुण प्रगट हो जाते हैं वे इस प्रकार हैं–

१. मोहनीय कर्म का नाश होने से शुद्ध सम्यक्दर्शन, शुद्धोपयोग, स्वरूपाचरण, यथाख्यात चारित्र प्रगट हो जाता है।
२. ज्ञानावरणीय कर्म का नाश होने से अनंत ज्ञान, केवलज्ञान सूर्य प्रगट हो जाता है।
३. दर्शनावरणीय कर्म का नाश होने से अनंतदर्शन केवलदर्शन प्रगट हो जाता है।
४. अंतराय कर्म का नाश होने से अनंतवीर्य (बल) प्रगट हो जाता है।
५. नाम कर्म का नाश होने से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट हो जाता है, शरीर आदि संयोग नहीं रहते हैं।
६. गोत्र कर्म का नाश होने से अगुरूलघुत्व गुण प्रगट हो जाता है। समदर्शी, साम्यभाव, भेदरहित अभेद दशा होती है।

१४०. ज्ञानानंद श्रावकाचार, भोपाल प्रकाशन, सन २००० द्वि.सं.
१४१. बृहद् द्रव्य संग्रह, श्री नेमिचंद्राचार्य, गाथा १४

७. आयु कर्म का नाश होने से अवगाहनत्व गुण प्रगट हो जाता है।
८. वेदनीय कर्म का नाश होने से अव्याबाधत्व गुण प्रगट हो जाता है।

इस प्रकार सिद्ध परमात्मा सर्वगुणों से संयुक्त पूर्ण शुद्ध परमानंदमयी परमात्मा होते हैं।

सिद्ध परमात्मा में कर्म जनित कोई भी विकार नहीं होता इसलिए सर्वकर्मों से रहित आत्मा को ही सिद्ध परमात्मा कहते हैं। उनके सम्यक्दर्शन आदि अनंत गुण पूर्णरूपेण प्रगट हो जाते हैं, वे निरंतर अपने आत्मानंद में लीन रहते हैं। इनको ही ईश्वर, भगवान,परमेश्वर, परब्रह्म, निरंजन, ब्रह्म, परमात्मा, चिदानंद, प्रभु आदि नामों से भव्य जीव ध्याते हैं। सिद्ध भगवान की महिमा और विशेषता बताते हुए श्री नागसेन मुनि ने कहा है–

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थ: प्रतिक्षणं॥
त्रिकाल विषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं।
जानन् पश्यंश्च नि:शेषमुदास्ते स तदा प्रभु:॥
अनंतज्ञान दृग्वीर्य वैतृष्ण्यमयमव्ययं।
सुखं चानु भवत्येष तत्रातींद्रियमच्युत:॥

अर्थ– सिद्ध परमात्मा न मोह करते हैं, न संशय करते हैं, न स्व–पर पदार्थों में कोई विमोह रूप अध्यवसाय करते हैं, किंतु सदा ही अपने स्वभाव में तिष्ठते हैं। वे प्रभु तीन काल संबंधी सर्व पदार्थों को व अपने को जैसे का तैसा जानते देखते हुए पूर्णपने वीतरागी रहते हैं। वे वहां उस सुख का स्वाद लेते हैं, जो अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमयी है, तृष्णा से रहित है, अविनाशी है, इंद्रियों से रहित और अनंत है।[१४२]

अभेद दृष्टि से सिद्ध भगवान एक अखंड स्वभाव के धारी हैं तथा परमानंदमयी शुद्ध भाव में तल्लीन हैं, उनका स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य है वे शरीर रहित अमूर्तीक हैं।

सिद्ध में सत्य जिन स्वभाव उत्पन्न हो गया है, उन्होंने अपने ज्ञानानंदमयी स्वरूप को प्रगट कर लिया है, वहां ज्ञान स्वभाव का निर्विकल्प अनुभव है, स्वात्मरमण चारित्र सहित उन सिद्ध परमात्मा ने कर्मों को क्षय कर सिद्धि मुक्ति को प्राप्त कर लिया है। आठ गुणों सहित, आठ कर्म रहित सिद्ध परमात्मा का आठवीं पृथ्वी के ऊपर सदाकाल निवास रहता है।

१४२. तत्वानुशासन, श्री नागसेन,श्लोक २३७–२३९

श्री देवसेनाचार्य महाराज ने कहा है–

गमणागमण विहीणो फंदणचलणेहि विरहिओ सिद्धो।
अव्वाबाह सुहत्थो परमट्ठगुणेहिं संजुत्तो॥
लोयालोयं सव्वं जाणइ पेच्छइ करणकमरहियं।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणंतपज्जाय गुणकलिए॥
धम्माभावे परदो गमणं णत्थित्ति तस्स सिद्धस्स।
अत्थइ अणंतकालं लोयग्गणिवासिउं होउं॥
असरीरा जीवघणा चरमसरीरा हवंति किंचूणा।
जम्मणमरणविमुक्का णमामि सव्वेपुणो सिद्धा॥

अर्थ– सिद्ध भगवान गमन–आगमन रहित हैं, हलन–चलन रहित हैं, बाधा रहित सुख में लीन हैं, परमशुद्ध आठ गुण सहित हैं। बिना इंद्रिय और मन की सहायता के कामरहित सर्व लोकालोक को व मूर्तीक–अमूर्तीक द्रव्यों को अनंत गुण पर्याय सहित देखते जानते हैं।

धर्म द्रव्य लोक के बाहर नहीं है इसलिए सिद्ध भगवान का गमन लोक के बाहर नहीं होता, वे लोक के अग्र भाग में अनंत काल तक निवास करते हैं। समस्त सिद्ध परमात्मा अशरीरी हैं तथा वे जीव के स्वरूपमय घनाकार हैं, अंतिम शरीर से किंचित् न्यून आकार में हैं, जन्म–मरण से रहित हैं, ऐसे सिद्ध भगवंतों को मैं बारंबार नमस्कार करता हूं। [१४३]

इस प्रकार जिनने आठों कर्मों को क्षय करके मुक्त दशा को प्राप्त कर लिया ऐसे सिद्ध परमात्मा की अनेकों विशेषतायें हैं, उनकी महिमा अनुभवगम्य है।

आचार्य नेमिचंद्र महाराज ने लिखा है –

अट्ठविहकम्मवियला, सीदी भूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

अर्थ– जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, अनंत सुख रूपी अमृत के अनुभव करने वाले शांतिमय हैं, नवीन कर्मबंध की कारणभूत मिथ्यादर्शन आदि प्रकृतियाँ और भावकर्मरूपी अंजन से रहित हैं।

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध,अवगाहन,सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व यह आठ गुण जिनके प्रगट हो चुके हैं, जो कृतकृत्य हैं अर्थात् जिनको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं। [१४४]

१४३. तत्वसार, श्री देवसेनाचार्य, गाथा ६८, ६९, ७०, ७२

१४४. गोम्मटसार जीवकाण्ड, नेमिचंद्राचार्य, गाथा ६८

सिद्ध भगवान को नमस्कार करने का प्रयोजन

सिद्ध परमात्मा ने अनंत गुणों को प्रगट कर लिया है वे देवाधिदेव हैं। यह देव संज्ञा सिद्ध भगवान में ही शोभती है, चार परमेष्ठियों की गुरु संज्ञा है। सिद्ध परमेष्ठी जो सर्वतत्त्व को प्रकाशित करते हुए भी ज्ञेय रूप नहीं परिणमते हैं, अपने स्वभाव रूप ही रहते हैं, ज्ञेय को जानते मात्र हैं। वह जानना भी किस प्रकार है ? जो यह समस्त ज्ञेय पदार्थ मानो शुद्ध ज्ञान में डूब गए हैं या प्रतिबिंबित हुए हैं। इस प्रकार सिद्ध परमात्मा असंख्यात प्रदेशमय शांतरस से परिपूर्ण हैं तथा ज्ञानरस से आल्हादित हैं। शुद्ध अमृत ऐसे परम रस को ज्ञानांजलि से निरंतर पान करते रहते हैं। जिस प्रकार चंद्रमा के विमान से अमृत झरता है वह दूसरों को आल्हादित करता है, आनंद उपजाता है, इसी प्रकार सिद्ध भगवान आप स्वयं तो ज्ञानामृत पीते हैं तथा उसी में आचरते हैं जिससे जगत के जीवों को आल्हाद और आनंद उपजता है। कहा भी है–

गुण अनंतमय परम पद, श्री जिनवर भगवान।
ज्ञेय लक्ष्य है ज्ञान में , अचल महा शिवथान॥[१४५]

उन भगवान का नाम स्मरण, स्तुति और ध्यान करने से भव्य जीवों के आताप विला जाते हैं, परिणाम शांत हो जाते हैं, स्व–पर की शुद्धता होती है। जो भव्य जीव ज्ञानामृत का पान करते हैं उन्हें निज स्वरूप की प्रतीति हो जाती है।

ऐसे शुद्ध सिद्ध भगवान जयवंत प्रवर्तो। उन्हें ॐ नम: सिद्धेभ्य: मंत्र के द्वारा बार–बार नमस्कार हो। उन्हें नमस्कार करने का प्रयोजन है उन जैसे गुणों की प्राप्ति करना, स्वयं संसार सागर से मुक्त होना।

जिस प्रकार आचार्य उमास्वामी ने कहा है –

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भू भृताम्।
ज्ञातारं विश्व तत्वानाम् , वन्दे तद्गुण लब्धये॥

अर्थ– मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों को भेदन करने वाले तथा विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले परमात्मा की उनके गुणों की प्राप्ति के लिए वंदना करता हूं। [१४६]

अरिहंत भगवान और सिद्ध भगवान देवत्व की श्रेणी में आते हैं वे हमारे आदर्श हैं, उनके गुणों की प्राप्ति करने के प्रयोजन से उन्हें नमस्कार किया जाता है। भगवान के स्वरूप का आराधन करके अपने आत्मा का सिद्ध स्वरूप ही

१४५. मंदिर विधि, तारण तरण भाव पूजा

१४६.तत्वार्थ सूत्र, आचार्य उमास्वामी, मंगलाचरण

साधने योग्य है। सम्यक्दृष्टि श्रावक , साधु, अरिहंत भी अपने सिद्ध स्वरूप का निरंतर ध्यान करते हैं। सभी भव्य जीवों को परमात्मा के स्वरूप का चिंतन मनन करके अपने आत्मा को सिद्ध के समान ध्याना चाहिए।

जयतु जय ॐ नम: सिद्धम्

ॐ नम: सिद्धेभ्य: इस पवित्र मंत्र में अनंत सिद्ध भगवंतों को नमस्कार किया गया है। जैन दर्शन में परमात्मा को दो रूपों में बताया है– कार्य परमात्मा और कारण परमात्मा। जो जीव परमात्म पद प्राप्त कर चुके हैं अर्थात् जिन्होंने पर्याय में परमात्म पद की प्राप्ति रूप कार्य सिद्ध कर लिया है वे कार्य परमात्मा कहलाते हैं तथा रत्नत्रयमयी अभेद परमशुद्ध पारिणामिक भावमयी शुद्धात्मा ध्रुव स्वभाव को कारण परमात्मा कहा गया है। कारण परमात्मा के आश्रय ही धर्म की प्रगटता होती है यही धर्म जीव को कार्य परमात्मा बना देता है।

अपने आत्मा के शुद्ध सिद्ध स्वभाव का अनुभवन करना ॐ नम: सिद्धम् मंत्र का अभिप्राय है। इस आत्मानुभूति से ही आत्म कल्याण का मार्ग बनता है इसलिए कल्याण के लिए हमें प्रतिक्षण अपने सिद्ध स्वरूप का आराधन और अनुभव करना चाहिए कि मैं सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा ज्ञान स्वभाव मात्र हूं, चैतन्य सत्ता मात्र हूं। यदि अपने इस स्वभाव से विमुख होकर पर्याय दृष्टि से देखेंगे तो परमार्थ स्वरूप का अनुभवन नहीं होगा इसलिए समस्त पर्याय दृष्टि और संयोग से परे होकर मैं स्वभाव से परिपूर्ण शुद्ध अनंत गुण स्वरूप सिद्ध के समान शुद्धात्मा हूं, ज्ञानमात्र हूं ऐसा अनुभव करें। आचार्य योगीन्दुदेव ने कहा है–

जेहउ णिम्मलु णाणमऊ, सिद्धिहिं णिवसइ देउ।
तेहऊ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ॥

अर्थ– जैसा केवलज्ञानादि प्रगट स्वरूप कार्य समयसार, त्रिकर्मोपाधि रहित, केवलज्ञानादि अनंत गुण रूप सिद्ध परमेष्ठी देवाधिदेव परम आराध्य परमात्मा मुक्ति में निवास करता है, वैसा ही सब लक्षणों सहित परब्रह्म शुद्ध बुद्ध स्वभाव परमात्मा शरीर में तिष्ठता है इसलिए हे प्रभाकर भट्ट ! तू सिद्ध भगवान में और अपने में भेद मत कर। [१४७]

आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने अपने सिद्ध स्वभाव का आराधन और अनुभवन किया। उन्होंने केवलमत के खातिका विशेष नामक ग्रंथ में जहां एक ओर संसार के स्वरूप का वर्णन किया है वहीं संसार से छूटने मुक्त होने के लिए

१४७. परमात्म प्रकाश, योगीन्दुदेव, अध्याय १/२६

अपने स्वरूप का आश्रय लेने की प्रेरणा देते हुए कहा है–

सिद्ध ध्रुव स्वभाव।

अर्थ– आत्मा का ध्रुव स्वभाव ही सिद्ध स्वभाव है, ध्रुव तत्त्व है, कारण और कार्य परमात्मा है, वही तत्त्व है, परम ध्रुव, परम सत्य है। [१४८]

अपना इष्ट और आराध्य एक मात्र यही सिद्ध स्वभाव है। श्री जिन तारण स्वामी 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र में जो अभिप्राय है, उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

ॐ नम: उवन सिद्ध नमो नम: ॥

ओंकार निज निराकार निर्विकार नित्य निरंजन निज निजानंद निर्भर नि:शेष द्रव्य भाव नो कर्मादि रहित शुद्ध स्वभाव भावस्य चिच्चैतन्यात्मन: ओंकार स्वभावस्यैव पर्यायवाची ॐ इति। तस्मै ओंकाराय शुद्ध स्वरूपाय नमो नमस्कारं करोमि। शुद्ध स्वभावं स्वभावे प्रतिष्ठाप्यतमेव तस्मिन्नेव वा स्वरूपाचरणं करणीयमिति निश्चय मंगलं भाव नमस्कारमिति सिद्धम्। स्वरूपे स्वात्मनिस्वरूपस्योदयं प्राप्त: इति उवन नाम स एवनादि शुद्ध सिद्धात्मानिश्चयेन, तं उवन सिद्धं तस्मै उवन सिद्धाय नम:। निजात्मने परम स्वरूपाय नम:।

आचार्य तारण स्वामी द्वारा रचित श्री छद्मस्थवाणी ग्रंथ की टीका समाजरत्न स्व. पूज्य श्री ब्र. जयसागर जी महाराज द्वारा की गई है। उपर्युक्त संस्कृत भाषा निबद्ध अंश इसी टीका का है, उन्होंने टीका का काव्य अर्थ, विशेषार्थ पद्यानुवाद आदि अनेक बिंदुओं के साथ यह टीका की है, जिसका सार संक्षिप्त इस प्रकार है–

ओंकाराय च सिद्धाय उवनाय नमो नम:।
स्वानुभूत्यां प्रसिद्धाय स्वसिद्धाय नमो नम: ॥

अर्थ– ओंकार शुद्धात्मा को नमस्कार हो, मेरे उवन सिद्ध शुद्ध स्वभाव को नमस्कार हो।

ओंकार स्वरूप निज निराकार निर्विकार नित्य निरंजन निज निजानंद निर्भर सर्व द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म से रहित शद्ध स्वभाव चित् चैतन्य आत्मा के ओंकार स्वभाव के ही पर्यायवाची ॐ इस प्रकार उस ओंकार शुद्ध स्वरूप को नमस्कार करता हूं। शुद्ध स्वभाव को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करके उसको ही उसमें ही अपने स्वरूप का आचरण करणीय है, यही निश्चय मंगल भाव नमस्कार है। अपने आत्मा में अपने स्वरूप का उदय प्राप्त हो उसे ही उवन नाम से कहते हैं। वही अनादि शुद्ध सिद्धात्मा निश्चय से है। उस उवन को उवन सिद्ध को नमस्कार हो, निजात्मा के परम स्वरूप को नमस्कार हो।

१४८. श्री अध्यात्म वाणी, खातिका विशेष, सूत्र ३१, पृष्ठ ३९१

काव्य अर्थ करते हुए कहा है कि ओंकार सिद्ध को नमस्कार हो, उवन सिद्ध को नमस्कार हो, अपनी अनुभूति में प्रसिद्ध अपने सिद्ध को नमस्कार हो।[१४९]

वस्तुत: सिद्ध परमात्मा के समान अपने सिद्ध स्वरूप का अनुभवन करना ही 'ॐ नम: सिद्धम्' का अभिप्राय है। आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने श्री छद्मस्थवाणी ग्रंथ के द्वितीय अधिकार, तृतीय अधिकार एवं चतुर्थ अधिकार का प्रारंभ ॐ नम: सिद्धम् मंत्र से ही किया है।

पूज्य जयसागर जी महाराज इस ग्रंथ की टीका के अंतर्गत लिखते हैं –

ॐ नम: सिद्धम्।

ॐ शुद्धात्मने सिद्धम् सिद्धस्वरूपाय नम: नमोऽस्तु नमस्कारं करोमि। शुद्ध स्वरूपं सिद्ध स्वभावं स्वीकरोमि।

अर्थ– ओंकार शुद्धात्म स्वरूप सिद्ध स्वभाव को नमस्कार हो। ओंकार शुद्धात्मा को सिद्ध स्वरूप को नमस्कार हो। शुद्ध स्वरूप और सिद्ध स्वभाव को मैं अपने स्वरूप में स्वीकार करता हूं।

ॐ नम: सिद्धेभ्य: मंत्रं स्मरामि मनसि सदा।
नम: शुद्धात्मने सिद्धम् सोऽहं सिद्धोऽस्मि निश्चय: ॥

ॐ शुद्धात्मा के स्वरूप को तथा सिद्ध भगवान को इस सूत्र में नमस्कार किया गया है, अपने आत्मा को मानने वाला सिद्धों को नमस्कार करता है। यहां प्रश्न होता है कि यहां परदृष्टि हुई या नहीं ? उत्तर है– परदृष्टि नहीं हुई क्योंकि नमस्कार करने के पूर्व अपने सिद्ध स्वभाव की श्रद्धा आई, जैसा अपना सिद्ध स्वभाव है, हमारा निश्चय में जो स्वरूप है वैसा परिपूर्ण स्वरूप जिनका प्रगट हो गया, द्रव्य गुण पर्याय जिनके तीनों एक हो गए, ऐसा जानकर उन सिद्धों के प्रति उल्लास भाव पूर्वक बहुमान का भाव आता है। उनको नमस्कार और अपनी अनुभूति दोनों साथ हैं। जितना भक्ति का भाव सिद्धों के प्रति प्रगट हो रहा है उतनी ही अनुभूति अपनी तथा सिद्धों के स्वभाव से अपने शुद्ध स्वभाव की तुलना हो रही है और इससे अपने सम्यक्त्व भाव की अनंत दृढ़ता हो रही है। इस तुलनात्मक स्वानुभूति से अपनी अनुभूति में भी यही सिद्ध होता है कि सम्यक्दृष्टि आत्मदर्शी निर्ग्रंथों की नमस्कार भी असाधारण अर्थ को रखती है। सिद्ध स्वरूप के ज्ञाता सिद्धों को नमस्कार करें तो वह नमस्कार भी कैसा होगा ? अतएव नमस्कार करने वाले को अपना नमस्कार हो।

१४९. श्री छद्मस्थवाणी, टीका – समाज रत्न पूज्य श्री जयसागर जी महाराज, २/१, सागर प्रकाशन सन् १९९१

आत्मा में स्थापना कर शुद्ध सिद्ध स्वभाव की।
गुरुदेव करते हैं नमन यह वंदना निज भाव की ॥[१५०]

यह भाव वंदन अपने आत्म स्वरूप के आश्रय और अनुभव से होता है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा स्वयं ही परमात्म स्वरूप है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने नियमसार ग्रंथ में लिखा है –

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठ गुणालंकिया जेण ॥

अर्थ– जैसे सिद्ध परमात्मा हैं वैसे ही भवलीन संसारी जीव हैं। सिद्ध परमात्मा के समान स्वभाव से वे संसारी जीव सिद्धों की भांति जन्म जरा मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥

अर्थ– जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्ध परमात्मा अशरीरी अविनाशी अतीन्द्रिय निर्मल और विशुद्धात्मा हैं उसी प्रकार संसार में जीवों को जानना चाहिए।[१५१]

आत्मा निश्चयनय से स्वयं ही परमात्मा के समान है। जीव की संसारी दशायें कर्म के कारण बनती हैं। कर्म के उदय निमित्त से जीव का संसारी परिणमन चलता है किंतु आचार्य नेमिचंद्र जी के अनुसार–**''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया''** अर्थात् शुद्धनय की अपेक्षा से अथवा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से सब संसारी जीव शुद्ध हैं अर्थात् सहज शुद्ध एक ज्ञायक स्वभाव वाले हैं।[१५२]

परिपूर्ण त्रिकाली ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा स्वयं ही है, उसके सन्मुख होने पर वह तत्काल निज रस से ही प्रगट होता है। वह आदि मध्य अंत रहित, अनादि अनंत सिद्ध स्वरूप समयसार शुद्धात्मा अनुभूति से ही जाना जाता है। यह शुद्ध वस्तु चैतन्य तत्त्व त्रिकाल है। पर्याय में प्रसिद्धि हुई है यही अनुभूति की दशा है। यह तत्त्व ज्ञानानंद स्वरूप है। जब यह आनंद का नाथ स्वयं से स्वयं में स्थित होता है तब समस्त विकल्पों की आकुलता को छोड़कर निराकुल आनंद रूप पर्याय में प्रगट होता है। अनाकुल केवल एक समस्त विश्व से विलक्षण ज्ञानी ऐसा अपने आत्मा को अनुभवता है। केवल एक का ही अभेद अनुभव करता है, वहां यह द्रव्य है, यह पर्याय है ऐसा भेद नहीं होता, केवल एक सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्म तत्त्व ही अनुभव में रहता है। ऐसा अनुभवन ही भगवान की वाणी का सार है।

१५०. वही, ३/१, पृष्ठ १२६
१५१. नियमसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा ४७, ४८
१५२. वृहद् द्रव्य संग्रह, नेमिचंद्राचार्य, पृ. ३६

आचार्य योगीन्दुदेव कहते हैं –

जो परमप्पा सो जि हऊँ, जो हऊँ सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइया, अण्णु म करहु वियप्पु ॥

अर्थ– जो परमात्मा है, वही मैं हूं, जो मैं हूं वही परमात्मा है, यह समझकर हे योगिन् ! अन्य कुछ भी विकल्प मत कर ।

जो जिण सो हऊँ सो जि हऊँ एहउ भाउ णिभंतु ।
मोक्खह कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥

अर्थ– जो जिनदेव हैं, वह मैं हूं, वही मैं हूं, इसकी भ्रांति रहित होकर भावना कर । हे योगिन् ! मोक्ष का कारण कोई अन्य तंत्र मंत्र नहीं है । [१५३]

चैतन्य प्रभु परमात्मा अनंत गुणों का पिण्ड स्वयं सिद्ध है अर्थात् इसे किसी ने बनाया नहीं है । ऐसा अनादि अनंत सत्ता का धनी सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा है । धर्मी पुरुषों ने इसी को अपनी दृष्टि का विषय बनाया है इसीलिए राग की और भेद विकल्पों की अपेक्षा किए बिना, अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप को अखंड धारा से निरंतर अनुभवते हैं । किसी समय राग का अनुभव और किसी समय ज्ञान का अनुभव करें ऐसा नहीं है बल्कि अखंड धारा से स्वानुभव ही वर्तता है ।

'ॐ नम: सिद्धम्' की साधना विशुद्ध आध्यात्मिक साधना है, क्योंकि इस मंत्र के आराधन में अपने सिद्धत्व का अपने में ही अनुभव करना होता है । इस साधना में परद्रव्यों से अपनत्व और कर्तृत्व रूप मान्यता मिटाकर अपने स्वभाव की दृष्टि करने पर मात्र ज्ञाता दृष्टा स्वभाव साधक के अनुभव में आता है अत: वहां रागादि भावों का अस्तित्व ही दिखाई नहीं देता इसलिए ज्ञानी मात्र ज्ञायकपने के अलावा अन्य किसी भी राग अथवा संयोग को महत्व नहीं देता, क्योंकि पराश्रित होने पर ही रागादि भाव होते हैं और अपने स्वभाव से च्युत होने पर पर्याय में होने वाले रागादि अनुभव में आते हैं । सम्यक्दृष्टि ज्ञानी उनकी उत्पत्ति में भी मात्र अपनी वर्तमान पुरुषार्थ की निर्बलता को ही कारण मानता है, कोई परद्रव्य, क्षेत्र, काल, संयोग अथवा कर्मादि को नहीं, फिर भी ज्ञायक स्वभाव का जोर होने से रागादि की उपेक्षा होने पर वे टूटते ही जाते हैं और स्वभाव का बल बढ़ता जाता है ।

साधक की साधना में पुरुषार्थ के इसी संघर्ष में रागादि को उपचार से कर्मकृत कहा जाता है, स्वच्छंदी होने के लिए नहीं कहा जाता । रागादि की उत्पत्ति परद्रव्य के आश्रय करने से ही होती है । इस प्रकार के निर्णय से ही सर्व विश्व से परोन्मुखी दृष्टि हो जाने से श्रद्धान में अत्यंत निराकुलता प्रगट हो जाती है । यही परमसुख,

१५३. योगसार, योगीन्दुदेव, गाथा २२, ७५

स्वाभाविक सुख, आत्मीय सुख है । इसी ज्ञायक स्वभाव की दृढ़ता एवं रमणता से चारित्र में परम निराकुल शांति अनुभव होने लगती है और जब अक्रम उपयोग से मात्र ज्ञायकपना ही रह गया और कभी एक समय के लिए भी स्वभाव च्युति नहीं है ऐसी अवस्था विशेष का नाम ही मोक्ष है, वही अविनाशी परम उत्कृष्ट निराकुलता जनित सुख है ।

'ॐ नम: सिद्धम्' में निहित अन्त: तत्त्व परम पारिणामिक भाव स्वरूप ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा का आश्रय लेने पर जिस 'सिद्ध' को नमस्कार किया जा रहा है वह 'सिद्ध' पर्याय में भी प्रगट हो जाता है ।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक्दृष्टि अपने स्वभाव की दृष्टि करने पर आंशिक अनुभव करता है, अत: स्वभाव दृष्टि वह सम्यक्दृष्टि है और पर्यायदृष्टि अथवा निमित्ताधीन दृष्टि वह मिथ्यादृष्टि है । स्वभाव दृष्टि से मोक्ष और पर्याय दृष्टि से संसार भ्रमण होता है ।

सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में वस्तु स्वरूप की ऐसी परिपूर्णता उपदिष्ट हुई है कि प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण परमेश्वर परमात्मा है, उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है । उसी प्रकार प्रत्येक जड़ परमाणु भी अपने स्वभाव से परिपूर्ण है, इस प्रकार चेतन व जड़ प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र और स्वत: ही परिपूर्ण है । किसी भी तत्त्व को किसी अन्य तत्त्व के आश्रय की आवश्यकता नहीं है, ऐसा समझकर जो अपने परिपूर्ण आत्मा की श्रद्धा और आश्रय करता है, पर का आश्रय छोड़ता है वही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक धर्मात्मा है ।

संसारी अवस्थायें जीव के पूर्वोपार्जित कर्म के उदय के निमित्त से बनती हैं किंतु यह सब होने पर भी आत्मा स्वभाव से परिपूर्ण परमात्मा है, जब अपना अनुभव स्वयं करता है उस समय आचार्यों ने इसे परमदेव कहा है ।

आचार्य योगीन्दुदेव ने प्रभाकर भट्ट को समझाते हुए कहा है –

एहु जु अप्पा सो परमप्पा , कम्म विशेषें जायउ जप्पा ।
जामइ जाणइ अप्पें अप्पा, तामइ सो जि देउ परमप्पा ॥

अर्थ– यह स्वसंवेदन ज्ञानकर प्रत्यक्ष आत्मा, वही अनंत चतुष्टय का धारी निर्दोष परमात्मा है, वह व्यवहार नय करि अनादि कर्म बंध के विशेष से पराधीन हुआ दूसरे का जाप करता है, परंतु जिस समय वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानकर अपने को जानता है उस समय यह आत्मा ही परमात्म देव है । और भी कहा है –

जो परमप्पा णाणमउ, सो हऊँ देउ अणंतु ।
जो हऊँ सो परमप्पु परु, एहउ भावि णिभंतु ॥

अर्थ– जो परमात्मा ज्ञान स्वरूप है, वह मैं ही हूं, जो कि अविनाशी देव स्वरूप हूं, जो मैं हूं वही उत्कृष्ट परमात्मा है इस प्रकार निर्भ्रान्त होकर भावना कर। [१५४]

सोलहवीं शताब्दी में हुए श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज ने अपने सिद्ध स्वभाव की साधना की और अपने ग्रंथों में भी इसी सिद्ध स्वभाव की महिमा बतलाई है। केवलमत के सिद्ध स्वभाव नामक ग्रंथ में आचार्यदेव ने सिद्ध स्वभाव की अनुभूतियां स्पष्ट की हैं। इस ग्रंथ की टीका करते हुए पूज्य ब्र. जयसागर जी महाराज ने लिखा है –

ऐसो सिद्ध स्वभाव उत्पन्न प्रवेश ॥ ५ ॥

अर्थ– इस प्रकार यह सिद्ध स्वभाव अपने असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र में उत्पन्न होकर अपने अनंत ज्ञानादि स्वचतुष्टय में प्रवेश कर रहा है।

सिद्धों का निवास तो सिद्ध शिला बताया गया है, यहां अपने स्वभाव में प्रवेश निवास करना कहा गया है। यह कैसे ? वास्तव में मुक्ति क्षेत्र तो अपना ज्ञान स्वभाव है। अनंत इस समय सिद्ध परमात्मा हैं, वे अपने ज्ञान स्वभाव में हैं। अज्ञानी की मुक्ति पराश्रित है। ज्ञानी का सब कुछ अपने आश्रित है, अपने पास है। सिद्धों का स्वभाव इस शरीर के आश्रित नहीं है। जिसका जो स्वभाव है, वह उसके आश्रित है। आत्मा का स्वभाव आत्मा के आश्रित और शरीर का स्वभाव शरीर के आश्रित है, यही अंतिम निर्णय है इसलिए– **ऐसो सिद्ध स्वभाव उत्पन्न प्रवेश** का अभिप्राय है कि मुक्ति श्री अपने ही ज्ञान स्वभाव में है। [१५५]

मुक्ति श्री का अभिलाषी ज्ञानी साधक अपने स्वरूप के आश्रय से अंतर में ही मुक्ति का अनुभव करता है, वह समस्त व्यवहार विकल्प आदि को गौण करके शुद्ध नय के द्वारा अपने आत्म वैभव का दर्शन करता है, वहां शुद्धनय आत्म स्वभाव को प्रगट करता हुआ उदय रूप होता है। वह आत्म स्वभाव को पर द्रव्य, पर द्रव्य के भाव तथा पर द्रव्य के निमित्त से होने वाले परभावों से भिन्न प्रगट करता है और वह आत्म स्वभाव संपूर्ण रूप से पूर्ण है, समस्त लोकालोक का ज्ञाता है ऐसा प्रगट करता है, क्योंकि ज्ञान में भेद कर्म संयोग से है, शुद्धनय में कर्म गौण हैं। शुद्धनय आत्म स्वभाव को आदि अंत से रहित प्रगट करता है अर्थात् किसी आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया और कभी भी किसी से जिसका विनाश नहीं होता ऐसे पारिणामिक भाव को प्रगट करता है। वहां आत्म स्वभाव एक, सर्व भेदभाव अर्थात् द्वैत भाव से रहित एकाकार अनुभव

१५४. परमात्म प्रकाश, आचार्य योगीन्दुदेव, २/ १७४, १७५

१५५. ग्रंथ रत्नत्रय, सिद्ध स्वभाव, सूत्र ५, सागर प्रकाशन, १९९१

में आता है, जिसमें समस्त संकल्प–विकल्प के समूह विलीन हो गए हैं, शुद्धनय ऐसा प्रगट करता है। कहा है–

आत्म स्वभावं परभाव भिन्नमापूर्णमाद्यंत विमुक्तमेकम्।
विलीन संकल्प विकल्प जालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥[१५६]

आत्मा का सिद्धत्व अपने आपमें परिपूर्ण है और परभावों से शून्य है। आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने शून्य स्वभाव की साधना के अंतर्गत सिद्धि का उल्लेख करते हुए कहा है कि –

सिद्धि संपातं विसेष सुन्न सुभाव।

अर्थ– आत्मा के शून्य स्वभाव की अपनी विशेषता है, इसी में रमण करना, लीन रहना यही सिद्धि की संपत्ति है। [१५७]

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र में आत्मा के सिद्ध स्वभाव को नमस्कार किया गया है। यह सिद्ध स्वभाव अपने सिद्धत्व से अपने में परिपूर्ण और रागादि विकारों का अभाव होने से पर से शून्य है। इस शून्यता के अनुभव को ''सत्ता एक शून्य बिन्द'' के रूप में श्री जिन तारण स्वामी ने अनुभव में लिया था। स्वभाव में जहां कोई परभाव नहीं है, वही शून्य स्वभाव है। शून्य स्वभाव में अपने अस्तित्व की पूर्णता का बोध है, यहां परभावों का अभाव होता है, अपने स्वभाव का अभाव नहीं होता, यदि स्वभाव का अभाव हो जाए तो वस्तु ही नहीं रहेगी अत: सिद्धत्व के इस शून्य स्वभाव में अपने एक मात्र स्वभाव का अनुभव होता है उसी को शून्य स्वभाव कहते हैं।

सत् चित् आनंद स्वरूप जो आत्मा है, इसका त्रिकाली चैतन्य भाव वह स्वभाव इसके सम्मुख होकर वर्तमान में यह चैतन्य मात्र भाव मैं हूं ऐसा निर्विकल्प होकर अनुभवन करना यही आत्मा को ग्रहण करना है।

सत् यह द्रव्य स्वभाव जो त्रैकालिक एक रूप रहता है, चेतना यह गुण स्वभाव जो द्रव्य के जैसा ही सदैव शाश्वत रहता है और आनंद रूप अनुभवन करना यह पर्याय स्वभाव, इस प्रकार यहां द्रव्य गुण पर्याय तीनों आ गए परंतु सच्चिदानंद के अनुभव में तीनों अभेद रहते हैं। सद्गुरु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि जिसे धर्म करना है अर्थात् सुखी होना है उसे निमित्त, राग और भेद की दृष्टि दूर करके इन सबसे विमुख होकर अभेद एक चैतन्य मात्र आत्मा में ही दृष्टि एकाग्र करना चाहिए।

१५६. समयसार, आचार्य कुंदकुंद, आत्मख्याति टीका, कलश १०, पृ.– ३५

१५७. श्री अध्यात्मवाणी, सुन्न सुभाव, सूत्र १, पृष्ठ ३९५

दृष्टि का विषय ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा है, उसमें तो अशुद्धता की बात ही नहीं है, परंतु पर्याय में जो अशुद्धि है उसका ज्ञान ज्ञानी को रहता है, उसी को शुद्ध करने के लिए ज्ञानी साधक निरंतर ज्ञानोपयोग करता है और अपने सिद्ध स्वरूप शुद्धात्मा का आश्रय और अनुभव करता है।

जिन्होंने आठों कर्मों का नाश करके अपने पूर्ण सिद्धत्व को प्रगट कर लिया, ज्ञानी साधक उनके समान ही अपने स्वरूप का अनुभव करता है वही वास्तव में परमात्मा का स्वरूप है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है–

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
सत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मन: ॥

संपूर्ण पांचों इंद्रियों को वश में करके स्थिर अंत:करण के द्वारा अपने को देखते हुए जो स्वरूप प्रतिभासित होता है वही परमात्मा का स्वरूप है। [१५८]

जिस जीव को ऐसी यथार्थ दिव्य दृष्टि प्रगट होती है अर्थात् शुद्ध दृष्टि हो जाती है, उसे दृष्टि में अकेला ज्ञायक चैतन्य ही भासता है, शरीर आदि कुछ भासित नहीं होता, भेदज्ञान की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में भी आत्मा शरीर से भिन्न भासता है। जाग्रत दशा में तो ज्ञायक निराला ही रहता है।

उसको भूमिका अनुसार बाह्य वर्तन होता है, परंतु चाहे जिस संयोग में उसकी ज्ञान वैराग्य शक्ति अनुपम अद्‌भुत रहती है। मैं तो ज्ञायक ही हूं ऐसा अनुभव करता है। अंतर में यह निर्णय है कि विभाव और मैं कभी एक नहीं हुए, ज्ञायक पृथक् ही है ऐसा दृढ़ अटल अचल निर्णय रहता है, स्वरूप अनुभव में अत्यंत नि:शंकता वर्तती है। ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के आराधन के प्रगट सिद्ध स्वरूप के अनुभव की यह महिमा है।

ज्ञानी ज्ञायक स्वभाव का अवलंबन लेकर विशेष विशेष समाधि का सुख प्रगट करने को उत्सुक है अर्थात् अपने परमात्म स्वरूप में लीन होकर उसी में डूबे रहना चाहता है। उसकी अंतरंग भावना होती है कि स्वरूप में कब नित्य स्थिरता होगी, कब श्रेणी माड़कर परमानंदमयी परमात्मपद केवलज्ञान प्रगट होगा, कब ऐसा परमध्यान होगा कि आत्मा शाश्वत रूप से अपने ध्रुव धाम में जम जाएगा, चैतन्य का पूर्ण विलास प्रगट होगा, वह अवसर कब प्राप्त होगा, इस प्रकार ज्ञानी साधक ऐसी भावना निरंतर भाते हैं।

ज्ञानी जानते हैं कि परम सुख स्वरूप, परम आनंद स्वरूप तो सिद्ध पद ही है, जिन आत्माओं ने उस पद को प्राप्त किया है वे परम आनंद में लीन पूर्णत्व को उपलब्ध सिद्ध परमात्मा हैं। जैसा कि श्री शुभचंद्राचार्य जी ने कहा है–

१५८. समाधि शतक, पूज्यपाद स्वामी, श्लोक ३०

निर्लेपो निष्कल: शुद्धो निष्पन्नोऽत्यंत निर्वृत:।
निर्विकल्पश्च सिद्धात्मा परमात्मेति वर्णित: ॥

अर्थ– जो कर्म रूप लेप से रहित हैं,शरीर रहित, शुद्ध, कृत कृत्य, सबसे अत्यन्त उदासीन, निर्विकल्प ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को परमात्मा कहते हैं।[१५९]

साधने योग्य निज शुद्धात्म स्वरूप को दर्शाने के प्रयोजन को सिद्ध करने लिये के अरिहंत, सिद्ध परमेष्ठी दर्पण के समान हैं। अपना तो ''चिदानंद ज्ञायक सिद्ध स्वरूप है ''वही साधने योग्य है, इसके लिये अरिहंत सिद्ध परमात्मा प्रमाण हैं, आदर्श हैं। अरिहंत परमात्मा के स्वरूप का निर्णय करें तो प्रतीत हो कि ''आत्मा भी चिदानंद प्रभु है।'' पुण्य–पाप आदि कर्म पर्याय में हैं, उनका नाश होने पर स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा हो सकता हूं। निज स्वभाव रूपी साधन के द्वारा ही परमात्मा हुआ जाता है। गृहस्थ आश्रम में परमात्म दशा प्राप्त नहीं होती, यहां तत्त्व निर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप को जानकर निज शुद्धात्मानुभूति करना ही इष्ट और प्रयोजनीय है। यही सत्य धर्म की उपलब्धि है और इसी की साधना के द्वारा अपना दिव्य स्वरूप प्रगट होता है। अरिहंत आदि का स्वरूप वीतराग विज्ञानमय होता है। इसी कारण से अरिहंत आदि परमात्मा स्तुति के योग्य महान हुए हैं। अंतरंग शुद्धता होना और उसका ज्ञान होना यही परम इष्ट है क्योंकि जीव तत्त्व की अपेक्षा से तो जगत के सर्व जीव समान हैं। शक्ति से सभी आत्माएं शुद्ध हैं।

सिद्ध परमात्मा के समान अपने आत्म स्वरूप का अनुभव ही धर्म है।

आनंद मय प्रभु की निर्विकार शांति को धर्म कहते हैं। सद्‌गुरु तारण स्वामी ने कहा है–

आनंदं सहजानंदं धम्मं स सहाव मुक्ति गमनं च।

आनंद सहजानंदमयी स्व स्वभाव में रहना ही धर्म है यही धर्म मुक्ति की प्राप्ति कराता है। [१६०]

शुद्ध पारिणामिक भाव रूप त्रिकाली सहजानंद प्रभु का अवलम्बन लेने वाली वह शुद्ध भावना है। त्रिकाली निजानंद प्रभु तो भाव है और उसके लक्ष्य से, उसके अवलंबन से जो निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट होता है वह शुद्ध भावना है। ऐसी उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव रूप भावना समस्त रागादि से रहित होती है। ज्ञानी सम्यक्‌दृष्टि ऐसी भावना में स्थित रहता है। अपने सिद्ध स्वरूपी ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा को जानने वाला ध्याता पुरुष धर्मी जीव जिसको स्वसंवेदन आनंद

१५९. ज्ञानार्णव, श्री शुभचंद्राचार्य, शुद्धोपयोगाधिकार– ८
१६०. श्री अध्यात्मवाणी, उपदेश शुद्ध सार, गाथांश–२७, पृ.– ७०

अनुभूति सहित का एक अंश ज्ञान प्रगट हुआ है, वह सकल निरावरण अखंड एक शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म स्वरूप का ध्यान करता है क्योंकि वह जानता है कि निज रस से भरपूर शुद्धात्मा वही एक सारभूत है इसके अलावा अन्य कुछ भी नहीं है। अनंत-अनंत शक्ति के विस्तार से परिपूर्ण अपना सिद्ध स्वरूपी चैतन्य भगवान स्वयं ही सिद्धत्व का धनी है, इसी की ओर दृष्टि करके अंतर निमग्न होने पर सिद्ध स्वरूपी चैतन्य के पाताल में से अतीन्द्रिय आनंद की झिर फूटती है, यही स्वानुभव दशा है। इसी स्वानुभव का आनंद लेते हुए सद्गुरु श्री जिन तारण स्वामी ने कहा है-

सो, सो, सोहं, तूं सो तूं सो तूं सो ॥
हों सो, हों सो तूं सो , सो तूं सोहं सोहं हंसो ॥
सोहं, हंसो, सोहं सो तूं सोहं ॥
हुंजै, तूंजै, तुंजै हुंजै, तूंजै सुभाइ सुभाइ सुभाइ मुक्ति विलसाइ ॥

अर्थ- वह, वह, वही मैं हूं , जो तू है वह, जो तू है वह, जो तू है वह। मैं वही हूं, जो मैं हूं वही तू है, जो तू है वही मैं हूं,वही मैं हूं, मैं वही हूं वह मैं हूं , मैं वह हूं, वह मैं हूं, जो तू है वह मैं हूं।

मैं जय अर्थात् निज शुद्धात्म स्वरूप की जय, तू जय, तू जय, मैं जय, तू जय, स्वभाव स्वभाव में ही मुक्ति विलस रही है। [१६१]

इस मंगलमय सूत्र के एक-एक शब्द में आत्म साक्षात्कार हो रहा है। परमात्मा के समान अपने आत्म स्वरूप का बहुमान आ रहा है। परमात्मा की जय-जयकार मच रही है। सद्गुरु तारण स्वामी शुद्धात्म स्वरूप के साधक थे, यह सूत्र उनकी अंतर आत्मा से प्रगट हुआ है। श्री गुरु का संपूर्ण जीवन अपने आत्म स्वरूप के साक्षात्कार में आत्म साधना एवं आत्म समाधि में व्यतीत हुआ। इस मंत्र के प्रत्येक शब्द में अपने परमात्म स्वरूप की महिमा प्रत्यक्ष हो रही है। अपने स्वभाव में ही मुक्ति विलस रही है, अध्यात्म की साधना का यह अपूर्व अनुभव है। इस ग्रंथ की टीका में कहा गया है-

वही मैं हूं, वही तू है, वही वह सोऽहं अहम् ।
सब के स्वभावों में पड़ी है मुक्ति निधि देखो स्वयं ॥[१६२]

दृष्टि का विषय नित्यानंद स्वरूप अपना सिद्ध स्वरूपी आत्मा है। अतीन्द्रिय आनंद का भोग भले ही पर्याय में हो परंतु वह पर्याय दृष्टि का विषय नहीं है। दृष्टि का विषय तो अविकारी आनंदकंद सच्चिदानंद प्रभु शुद्धात्मा ही है और उसके

१६१. श्री अध्यात्मवाणी, छद्मस्थवाणी ७/१-४
१६२. छद्मस्थवाणी टीका, ब्र. जयसागर जी, सागर प्रकाशन, १९९१

सर्वस्व को भोगने वाला सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है क्योंकि चैतन्य वस्तु अंतर में परिपूर्ण है। सम्यक्दृष्टि मोक्षमार्गी ज्ञानी धर्मात्मा साधक शरीर को और राग को नहीं भोगता और अल्पज्ञता को भी नहीं भोगता। उसकी दृष्टि तो पूर्ण पर है, वह उसी पूर्ण स्वभाव के आनंद रस का आस्वादन करता है। पूर्णता का यह आनंद ही मोक्षमार्ग में ज्ञानी साधक को आगे बढ़ाता है। जन्म-मरण से रहित होने का ऐसा पथ अद्भुत ही है। श्री गुरु तारण स्वामी इसी प्रकार अध्यात्म मार्ग के साधक वीतरागी संत थे। परमात्मा के सदृश्य अपने आत्म स्वरूप का दर्शन अनुभवन उनकी सहज चर्या बन गई थी। श्री छद्मस्थवाणी ग्रंथ के आठवें अध्याय का प्रारंभ भी अपने आत्म स्वरूप के अनुभव परक सूत्र से किया है। पूज्य श्री ब्र. जयसागर जी महाराज ने इस ग्रंथ की टीका में लिखा है -

अयं अयं अयं । जयं जयं जयं । अयं जयं । अयं जयं ।
स्वयं स्वयं स्वयं । सोऽहं सोऽहं सोऽहं । जयं अहं तुहं ।
तुहं अयं जयं । अहं तुहं । तुहं अहं ।

अर्थ- यह यह यह । जय जय जय । यह जय । यह जय । स्वयं स्वयं स्वयं । वह मैं वह मैं वह मैं । जय मैं तू । तू यह जय । मैं तू । तू मैं ।

टीका इस प्रकार है-

शुद्धचिद्रूपोऽयमस्ति । अयमस्मि शुद्धात्मा । अयं ज्ञायते ज्ञाता दृश्यते दृष्टा च मया । त्रिकाल जयवंत: शुद्ध स्वभावोऽयम् । अहं जयतु । अयं जयतु जयवंत: । स्वयमेवास्ति शाश्वत स्वरूप: । स्वयमेवास्त्यनादिनिधनोऽयं । पराश्रयरहितोऽयं केवल: स्वयं । स एवाहं । स एवाहं । स एवाहं जयोऽहं त्वं । त्वमपि अयमसि । जयोऽसि त्वं । अहं त्वमस्मि । त्वं च अहमसि । इत्यात्म स्वयं साक्षात्कार:।

अर्थ- यह है शुद्धचिद्रूप। यह हूं शुद्धात्मा। यह ज्ञाता जाना जाता है, दृष्टा देखा जा रहा है। मैं ही वह हूं। त्रिकाल जयवंत शुद्ध स्वभाव यही है। यह जयवंत हो। यह जयवंत हो । स्वयं ही शाश्वत स्वरूप है। यह स्वयं ही अनादि निधन है। यह पराश्रय रहित स्वयं ही केवल है। वही मैं हूं। वही मैं हूं। वही मैं हूं। जयवंत मैं तू। तू भी यह है जयवंत है। मैं तू हूं। तू मैं है। इस प्रकार यह स्वयं आत्मा का साक्षात्कार है। इस टीका का कलश रूप काव्य इस प्रकार है -

अयमस्म्यहं जयमय: सोऽहं स्वरूप,
स्त्वं मादृशोऽसि तव शुद्ध स्वरूपमस्ति ।
ज्ञाताहमस्मि स्वयमात्मस्वरूप दृष्टा,
परद्रव्यभावरहितोऽहमहं स्वयं स्व: ॥

अर्थ– यह हूं मैं जयवंत स्वरूप सोऽहं। तुम मेरे सदृश हो। तुम्हारा शुद्ध स्वरूप है। मैं ज्ञाता हूं। स्वयं आत्मस्वरूप का दृष्टा हूं। परद्रव्य से, परभाव से रहित हूं। मैं स्वयं स्व हूं।

अयं यह सोऽहं समय जयवंत स्वयं स्वभाव ये।
मैं तू तथा तू मैं अभिन्न स्वरूप सोऽहं भाव ये ॥[१६३]

अध्यात्म में सदैव निश्चयनय ही मुख्य है। व्यवहारनय के आश्रय से कभी अंश मात्र भी धर्म नहीं होता अपितु उसके आश्रय से राग–द्वेष ही उठते हैं, तो जिसने शुद्ध निश्चयनय से अपने सत् स्वरूप को जान लिया कि मैं अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा और सिद्ध परमात्मा के समान पूर्ण हूं, स्वयं परमात्मा हूं, तब वह वर्तमान पर्याय में जो अशुद्धि है, पूर्व में अज्ञान दशा में जो कर्मों का बन्ध हो गया है, उनको क्षय करने के लिए अपने परम पारिणामिक भाव ममलह ममल स्वभाव सिद्ध स्वरूप ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा का आश्रय लेता है, अपने स्वरूप का अनुभव करता है, निश्चयनय की दृष्टि से इस अनुभव में कर्ता, कर्म और क्रिया का भेद नहीं होता बल्कि षट्कारक शुद्ध निश्चय से अपने में ही घटित होते हैं। व्यवहार में कर्ता कर्म क्रिया का भेद होता है। जैसे– कुंभकार ने घट बनाया, यहां कुंभकार घट बनाने वाला कर्ता हुआ, घट बना रहा है वह उसका कर्म हुआ और घट बनाने की जो विधि है, परिणति है वह उसकी क्रिया हुई। यहां कर्ता कर्म क्रिया तीनों भिन्न–भिन्न हैं। निश्चयनय से अनुभव के समय में कर्ता कर्म क्रिया का भेद नहीं होता, तीनों अभिन्न होते हैं। इसी अभिप्राय को श्री अमृतचन्द्राचार्य महाराज ने अमृत कलश में स्पष्ट किया है–

य: परिणमति स कर्ता य: परिणामो भवेत्तुतत्कर्म।
या परिणति: क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥

अर्थ– जो परिणमित होता है वह कर्ता है, परिणमित होने वाले का जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है, यह तीनों वस्तु रूप से भिन्न नहीं हैं। [१६४]

द्रव्य दृष्टि से परिणाम और परिणामी में भेद नहीं है, दोनों अभेद हैं और पर्याय दृष्टि से भेद है। भेद दृष्टि से तो कर्ता, कर्म और क्रिया यह तीन कहे गए हैं किंतु अभेद दृष्टि से परमार्थत: यह कहा गया है कि कर्ता कर्म क्रिया तीनों एक ही द्रव्य की अभिन्न अवस्थाएं हैं, प्रदेश भेद रूप भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। इसे और स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं –

१६३. वही, अष्टम अध्याय, पृष्ठ २७३, २७७
१६४. समयसार आत्मख्याति टीका, श्लोक–५१

एक: परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणति: स्यादनेकमप्येकमेव यत: ॥

अर्थ– वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है और एक की ही परिणति क्रिया होती है क्योंकि अनेक रूप होने पर भी वस्तु एक ही है भेद नहीं है। [१६५]

एक वस्तु की अनेक पर्याय होती हैं, उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है। वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न–भिन्न प्रतिभासित होती हैं तथापि वस्तु एक ही है, भिन्न नहीं है।

वस्तु स्वरूप की यथार्थता को आचार्यों ने इसी प्रकार स्पष्ट किया है। जहां अभेद अनुभव की बात है वहां तो किसी प्रकार का भेद होता ही नहीं है क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वाश्रय पूर्वक ही होता है। आचार्य इसे और भी स्पष्ट करते हैं–

नोभौ परिणमत: खलु परिणामो नोभयो: प्रजायेत।
उभयोर्न परिणति: स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥

अर्थ– दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति अर्थात् क्रिया नहीं होती क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं वे सदा अनेक ही हैं वे कभी बदलकर एक नहीं होते। [१६६]

जो दो वस्तुएं हैं वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेद वाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होती, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाएगा, अत: एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियाएं नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नहीं होता।

एक ही द्रव्य में कर्ता कर्म और क्रिया की अभिन्नता के आधार पर ही आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने ॐ नम: सिद्धम् मंत्र में सिद्धम् पद जो द्वितीया एकवचन है इसे विशेष रूप से लिया है। इस मंगलमय मंत्र की प्राचीनता तो स्वत: सिद्ध है परंतु इसके आध्यात्मिक रहस्य को कोई विरले ज्ञानी साधक ही जानते हैं।

यहां सिद्धम् पद द्वितीया विभक्ति का एकवचन है, यह संख्या में एक को सूचित करता है क्योंकि बहुवचन न होने से यहां अनेक का अर्थ नहीं लिया जा

१६५. वही, श्लोक ५२
१६६. वही, श्लोक ५३

सकता। एक होने से यह सिद्धम् पद स्वभाव को सूचित करता है। स्वभाव में सिद्ध परमात्मा का स्वभाव और निज आत्मा का स्वभाव गर्भित है।

ॐ नम: सिद्धम् यह मंगलमय मंत्र पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार अपने सिद्ध स्वभाव की अनुभूति को प्रसिद्ध करता है। यहां सिद्ध परमात्मा के समान ही अपने स्वरूप के अनुभव की प्रमुखता है इसलिए आत्मा और परमात्मा में अभेदपना है। इस अपूर्व स्थिति में आत्मा ही आत्मा के द्वारा उपास्य है। आचार्य पूज्यपाद ने अभेद स्थिति में होने वाले इस अनुभव का उल्लेख करते हुए कहा है –

य: परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्तत:।
अहमेव मयो पास्यो नान्य: कश्चिदितिस्थिति: ॥

अर्थ– जो परमात्मा हैं वह ही मैं हूँ और जो मैं हूँ वह परमात्मा है इसलिये मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, अन्य कुछ भी उपास्य नहीं है। और न मुझसे भिन्न अन्य के द्वारा मैं उपासनीय हूं। [१६७]

इस प्रकार यह अंतरंग अनुभूति जिन वचनों का सार है वस्तुत: यही परमात्मा की उपलब्धि है। ऐसी स्थिति मे ंपूज्य–पूजक का भेद भी समाप्त हो जाता है, परमार्थत: यही परमात्मा की सच्ची पूजा है जो स्वयं को आत्मा से परमात्मा बनाने वाली है।

आचार्य योगीन्दुदेव ने इसी प्रकार का एक आध्यात्मिक मंत्र दिया है –

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हूवाहं, पुज्ज चडावउं कस्स ॥

अर्थ– विकल्प रूप मन, भगवान आत्माराम से मिल गया और परमेश्वर भी मन से मिल गया। दोनों के ही समरस होने पर मैं अब किसकी पूजा करूं। [१६८]

इस प्रकार संपूर्ण द्वैत भाव का मिट जाना, अद्वैत भाव का प्रगट हो जाना, आत्मा और परमात्मा में किसी प्रकार का भेद न रहना, परम समरसी भाव से सम्पन्न अपना ममलह ममल स्वभाव ध्रुव स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व जो नंद, आनंद, चिदानंद, स्वभावमयी परम तत्त्व विंद पद स्वरूप है इसका अनुभवन ही सिद्ध स्वभाव को नमस्कार है। ऐसे अद्वितीय अनुपम परम आनंददायक आध्यात्मिक अनुभव को अपने में समाहित किए हुए है यह मंगलमय मंत्र– **ॐ नम: सिद्धम्।**

जयतु जय ॐ नम: सिद्धम्

---

१६७. समाधि तंत्र, आचार्य पूज्यपाद स्वामी, श्लोक– ३१

१६८. परमात्म प्रकाश, आचार्य योगीन्दुदेव, १/१२३

ॐ नम: सिद्धम संबंधी आध्यात्मिक भाव परक

आचार्य प्रणीत

- गाथा सूत्र -

आचार्य श्री जिन तारण स्वामी श्रावकाचार ग्रंथ में कहते हैं–

उवं हियं श्रियं चिन्ते, सुद्ध सद्भाव पूरितं।
संपूर्नं सुयं रूपं, रूपातीत विंद संजुतं ॥ २ ॥

अर्थ– उवंकार ह्रियंकार श्रियंकार अर्थात् ॐ ह्रीं श्रीं से परिपूर्ण अपने शुद्ध स्वभाव का चिंतन करता हूं जो स्वयं का ही परिपूर्ण परमात्म स्वरूप है तथा समस्त रूपों से अतीत विन्द अर्थात् निर्विकल्प स्वरूपमय है।

देवं च न्यान रूपेन, परमिस्टी च संजुतं।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ॥ ४२ ॥

अर्थ– देव जो मात्र ज्ञान स्वरूप है, जो परमेष्ठीमयी है ऐसा देवों का देव अरिहंत परमात्मा निश्चय से मैं इस देह में स्थित आत्मा हूं, ऐसा जो जानता है वह पंडित अर्थात् सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है।

कर्म अस्ट विनिर्मुक्तं, मुक्ति स्थानेषु तिस्टिते।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ॥ ४३ ॥

अर्थ– आठों कर्मों से रहित सिद्ध परमात्मा जो मुक्ति स्थान सिद्ध क्षेत्र में विराजते हैं वही मैं सिद्ध परमात्मा इस देह में विराजमान हूं, जो तत्त्वज्ञानी ऐसा जानता है वह पंडित अर्थात् सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है।

परमानंद सा दिस्टा, मुक्ति स्थानेषु तिस्टिते।
सो अहं देह मध्येषु, सर्वन्यं सास्वतं धुवं ॥ ४४ ॥

अर्थ– परमानंद का अनुभव करने वाले अर्थात् हमेशा परम आनंद में लीन रहने वाले सिद्ध परमात्मा हैं जो मुक्ति स्थान में विराजमान हैं, वैसे ही सिद्ध के समान मैं इस देह में विराजमान हूं जो सर्वज्ञ शाश्वत ध्रुव स्वभाव है।

दर्सन न्यान संजुक्तं, चरनं वीर्ज अनन्तयं।
मय मूर्ति न्यान संसुद्धं, देह देवलि तिस्टिते ॥ ४५ ॥

अर्थ– अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य से संयुक्त अर्थात् अनंत चतुष्टयमयी परम शुद्ध ज्ञानमयी चैतन्य मूर्ति देह देवालय में विराजमान है।

आत्मा परमात्म तुल्यं च, विकल्प चित्त न क्रीयते।
सुद्ध भाव स्थिरी भूतं, आत्मनं परमात्मनं ॥ ४८ ॥

अर्थ– आत्मा परमात्मा के समान है, जब अपने चित्त में कोई विकल्प न करता हो, शुद्ध भाव में स्थिर हुआ आत्मा ही परमात्मा है।

देवो परमिस्टी मइयो, लोकालोक लोकितं जेन।
परमप्पा ज्ञानं मइयो, तं अप्पा देह मज्झंमि॥ ३२४॥

अर्थ– देव जो परमेष्ठीमयी परम पद में स्थित हैं, जो लोकालोक के स्वरूप को देखते जानते हैं, जो ज्ञानमयी परमात्मा हैं वैसा ही आत्मा इस देह में विराजमान है अर्थात् आत्मा ही परमात्म स्वरूप है।

आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ में कहा है –

ममात्मा परमं सुद्धं, मय मूर्ति ममलं धुवं।
विंद स्थानेन तिस्टंति, नमामिहं सिद्धं धुवं॥ ४॥

अर्थ– मेरा आत्मा परम शुद्ध है, ममल ध्रुव स्वरूपमय चिदानंद मूर्ति है, निश्चय से विंद स्थान में विराजमान है, ऐसे शाश्वत सिद्ध स्वभाव को मैं नमस्कार करता हूं।

ममात्मा ममलं सुद्धं, ममात्मा सुद्धात्मनं।
देहस्थोपि अदेही च, ममात्मा परमात्मं धुवं॥ ४४॥

अर्थ– मेरा आत्मा ममल, शुद्ध है, मेरा आत्मा ही शुद्धात्मा है। देह में स्थित होते हुए भी मेरा आत्मा ध्रुव स्वरूप परमात्मा है।

त्रि अष्यरं च एकत्वं, ॐ नमापि संजुतं।
नमं नमामि उत्पन्नं, नमामिहं विंद संजुतं॥ ४५॥

अर्थ– ॐ नम: का अभिप्राय है, ओंकार स्वरूप को नमस्कार जो अनुभूति स्वरूप है, अपने ओंकार स्वरूप के अनुभव से संयुक्त हाना ही ॐ नम: अर्थात् तीन अक्षर की एकता है। इस अनुभव से जिस स्वरूप को नमस्कार किया जाता है वह उत्पन्न हो जाता है, इस निर्विकल्प विंद स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूं।

अप्पा परमप्प तुल्यं च, परमानंद नंदितं।
परमात्मा परमं सुद्धं, ममलं निर्मलं धुवं॥ ७९॥

अर्थ– आत्मा परमात्मा के समान है और परमानंद से आनंदित है। यह परमात्म स्वरूप परम शुद्ध ममल निर्मल और ध्रुव है।

आचार्य श्री जिन तारण स्वामी उपदेश सार ग्रंथ में कहते हैं –

आद्यं अनादि सुद्धं, उवइट्ठं जिनवरेहि सेसानं।
संसार सरनि विरयं, कम्म षय मुक्ति कारनं सुद्धं॥ २॥

अर्थ– जिनवरेंद्र तीर्थंकर भगवन्तों ने शिष्यों को उपदेश दिया है कि यह आत्मा अनादिकाल से शुद्ध है। स्वभाव से यह संसार के परिभ्रमण से विरक्त है।

कर्मों को क्षय करने में और मुक्ति को प्राप्त करने में यही शुद्ध कारण है।

आचार्य तारण स्वामी ने ममल पाहुड़ ग्रंथ में कहा है–

स्वामी देहाले सुइ सिद्धाले भेउ न रहै।
जं जाके अन्मोय स न्यानी मुक्ति लहै॥ २॥

अर्थ– हे स्वामी (आत्मन्)! जो परमात्मा सिद्धालय में विराजमान है, वैसा ही परमात्मा इस देहालय में विराजमान है, इसमें कोई भेद नहीं है। जो ज्ञानी इसकी अनुमोदना करते हैं, वे मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

(न्यान अन्मोय पचीसी फूलना, ३९/२)

श्रीमद् सकलकीर्ती गणी ने समाधि मरणोत्साह दीपक में लिखा है–

सिद्धोऽहं सिद्ध रूपोऽहं, गुणै: सिद्ध समो महान।
त्रिलोकाग्र निवासी, चारूपोऽसंख्य प्रदेशवान॥ १५०॥
शुद्धोऽहं विशुद्धोऽहं, नि:कर्माऽहं भवातिग:।
मनोवाक्काय दूरोऽहं, चात्यक्षोऽहं गत: क्रिय:॥ १५१॥
अमूर्तो ज्ञान रूपोऽहं, अनन्त गुण तन्मय:।
अनन्त दर्शनोऽनन्त, वीर्योऽनंत सुखात्मक:॥ १५२॥
अनन्त ज्ञान नेत्रोऽहमनन्त महिमाऽऽश्रय:।
सर्व वित्सर्वदर्शी चाहमनन्त चतुष्टय:॥ १५३॥
परमात्मा प्रसिद्धोऽहं बुद्धोऽहं स्वचिदात्मक:।
परमानन्द भोक्ताऽहं विगताऽखिल बन्धन:॥ १५४॥
एकोऽहं निर्ममत्वोऽहमुदासीनोऽमूर्जित:।
निर्विकल्पोऽहमात्मज्ञोऽहं दृक्केवल लोचन:॥ १५५॥
उपयोगमयोऽहं च कल्पनातीत वैभव:।
स्वसंवेदन संज्ञान गम्योऽहं योग गोचर:॥ १५६॥
सर्वज्ञ: सर्ववेत्ताऽहं सर्वदर्शी सनातन:।
जन्म मृत्यु जरातीतोऽहं सिद्धाष्ट गुणात्मक:॥ १५७॥
त्यक्ताष्ट कर्म कायोऽहं जगज्ज्येष्ठोऽहमञ्जसा।
जिनोऽहं परमार्थेन ध्येयो वंद्यो महात्मवान॥ १५८॥

अर्थ– मैं सिद्ध हूं, सिद्ध रूप हूं, मैं गुणों से सिद्ध के समान हूं, महान हूं, त्रिलोक के अग्रभाग पर निवास करने वाला हूं, अरूपी हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं।

मैं शुद्ध हूं, मैं निष्कर्मा हूं, मैं भवातीत हूं, संसार को पार कर चुका हूं, मैं मन, वचन, काय से दूर हूं, मैं अतीन्द्रिय हूं, इन्द्रियों से परे हूं, मैं क्रिया रहित निष्क्रिय हूं। मैं अमूर्त हूं, ज्ञान रूप अनन्त गुणात्मक हूं, मैं अनन्त दर्शन, अनन्त

वीर्य और अनन्त सुख का धारक हूं । मैं अनंत ज्ञानरूप नेत्र का धारक हूं, मैं अनंत महिमा का आश्रय हूं, आधार हूं, मैं सर्ववित् हूं, सर्वदर्शी हूं , अनंत चतुष्टय का धारक हूं। मैं परमात्मा हूं, मैं प्रसिद्ध हूं, मैं बुद्ध हूं , मैं स्वचैतन्यात्मक हूं, मैं परमानंद हूं, मैं सर्व प्रकार के कर्मबंधनों से रहित हूं। मैं एक हूं, अखंड हूं, निर्ममत्वरूप हूं, मैं उदासीन हूं, मैं ऊर्जस्वी हूं, मैं निर्विकल्प हूं, आत्मज्ञ हूं, केवलदर्शन और केवलज्ञान रूप दो नेत्रों का धारक हूं। मैं ज्ञान दर्शन रूप उपयोगमय हूं, मैं कल्पनातीत वैभव का धारक हूं, मैं स्वसंवेदनगम्य हूं, मैं सम्यक्ज्ञान गम्य हूं, मैं योग गोचर हूं, मैं सर्वज्ञ हूं, सर्ववेत्ता हूं, सर्वदर्शी हूं, सनातन हूं, मैं जन्म जरा और मृत्यु से रहित हूं, मैं सिद्धों के अष्ट गुणों का धारक हूं। मैं अष्ट कर्मरूप काय से, कार्माण शरीर से और सर्वकर्मों से रहित हूं, मैं निश्चयत: जगज्ज्येष्ठ हूं, मैं जिन हूं, परमार्थ से मैं ही स्वयं ध्यान करने योग्य हूं, वंदना करने योग्य हूं और अतिशय माहात्म्य का धारक हूं।

आचार्य योगीन्दुदेव योगसार ग्रंथ में कहते हैं –

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं, भेउ म किं पि वियाणि।
मोक्खहं कारण जोइया, णिच्छइ एउ विजाणि ॥ २० ॥

अर्थ– शुद्धात्मा और जिन भगवान में कुछ भी भेद न समझो, मोक्ष का कारण एक मात्र यही है, ऐसा निश्चय से जानो।

अरिहन्तु वि सो सिद्ध फुडु , सो आयरिउ वियाणि।
सो उवझायउ सो जि मुणि, णिच्छइ अप्पा जाणि ॥ १०४॥
सो सिउ संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिण ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध ॥ १०५ ॥
एव हि लक्खण लक्खियउ, जो परु णिक्कलु देउ।
देहहं मज्झहिं सो वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ ॥ १०६ ॥

अर्थ– निश्चय नय से आत्मा ही अर्हन्त है, वही निश्चय से सिद्ध है और वही आचार्य है और उसे ही उपाध्याय तथा मुनि समझना चाहिए। वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्मा है, वही अनंत है और सिद्ध भी उसे ही कहना चाहिए। इन लक्षणों से युक्त परम निष्कल देव जो देह में निवास करता है, उसमें और इनमें कोई भेद नहीं है।

जो परमप्पा णाणमउ सो हउं देउ अणंतु।
जो हउं सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥ १७५ ॥

अर्थ– जो परमात्मा ज्ञान स्वरूप है, वह मैं ही हूं, जो कि अविनाशी देव

स्वरूप हूं। वही उत्कृष्ट परमात्मा है, इस प्रकार निस्संदेह भावना कर।

आचार्य देवसेन तत्त्वसार में कहते हैं–

मल रहिओ णाणमओ, णिवसइ सिद्धि ए जारिसो सिद्धा।
तारिसओ देहस्थो, परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥

अर्थ– जैसा कर्म मल से रहित ज्ञानमय सिद्धात्मा सिद्धलोक में निवास करता है, वैसा ही परम ब्रह्म स्वरूप परमात्मा देह में स्थित जानना चाहिए।

णो कम्म कम्मरहिओ, केवलणाणाइ गुण समिद्धो जो।
सोहं सिद्धो सुद्धो, णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥ २७ ॥

अर्थ– जो सिद्ध जीव शरीरादि नो कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म तथा राग–द्वेषादि भाव कर्म से रहित है, केवलज्ञानादि अनंत गुणों से समृद्ध है, वही मैं सिद्ध हूं , शुद्ध हूं ,नित्य हूं, एक स्वरूप हूं और निरालंब हूं।

सिद्धोहं सुद्धोहं, अणंतणाणाइ समिद्धोहं।
देह पमाणो णिच्चो, असंखदेसो अमुत्तो य ॥ २८ ॥

अर्थ– मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनंत ज्ञानादि से समृद्ध हूं, देह प्रमाण हूं, मैं नित्य हूं, असंख्य प्रदेशी और अमूर्त हूं।

कुंदकुंदाचार्य नियमसार में कहते हैं–

णिद्दंडो णिद्वंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढ़ो णिब्भयो अप्पा ॥ ४३ ॥

अर्थ– आत्मा निर्दंड, निर्द्वंद, निर्मम, नि:शरीर, निरालंब, नीराग, निर्दोष, निर्मूढ़ और निर्भय है।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयल दोस णिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥ ४४ ॥

अर्थ– आत्मा निर्ग्रन्थ,नीराग,नि:शल्य, सर्वदोष विमुक्त, निष्काम, नि:क्रोध, निर्मान और निर्मद है।

जारिसिया सिद्धप्पा भव मल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरण जम्म मुक्का अट्ठगुणा लंकिया जेण ॥ ४७ ॥

अर्थ– जैसे सिद्धात्मा हैं, वैसे ही भवलीन संसारी जीव हैं , जिससे वे संसारी जीव सिद्ध आत्माओं की भांति जन्म, जरा, मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥ ४८ ॥

अर्थ– जिस प्रकार लोकाग्र में सिद्ध भगवान अशरीरी अविनाशी अतीन्द्रिय

निर्मल और विशुद्धात्मा हैं, उसी प्रकार संसार में सर्व जीव जानना।

श्री अमृतचंद्राचार्य महाराज ने समयसार की आत्मख्याति टीका में लिखा है –

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधीर्यद्यंत:
किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानु भवैकगम्य महिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंक विकलो देव: स्वयं शाश्वत: ॥ १२ ॥

अर्थ– यदि कोई सुबुद्धि अर्थात् सम्यक्दृष्टि जीव भूत,वर्तमान और भविष्य तीनों काल में कर्मों के बंध को अपने आत्मा से तत्काल शीघ्र भिन्न करके तथा उस कर्मोदय के निमित्त से होने वाले मिथ्यात्व अर्थात् अज्ञान को अपने बल से अर्थात् पुरुषार्थ से रोककर अथवा नाश करके अंतरंग में अभ्यास करे देखे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर) निश्चल, शाश्वत, नित्यकर्मकलंक कर्ममल से रहित स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।

सकलमपि विहायाह्राय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥ ३५ ॥

अर्थ– चित्शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूल से छोड़कर और प्रगट रूप से अपने चित् शक्तिमात्र भाव का अवगाहन करके समस्त पदार्थ समूह रूप लोक के ऊपर सुंदर रीति से प्रवर्तमान ऐसे यह एक मात्र अविनाशी आत्मा का अपने आत्मा में ही अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो।

चिच्छक्तिव्याप्त सर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ता: सर्वेऽपि भावा: पौद्गलिका अमी ॥ ३६ ॥

अर्थ– चैतन्य शक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व सार है ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है, इस चित्शक्ति से शून्य जो यह भाव हैं, वे सभी पुद्गल जन्य हैं, पुद्गल के ही हैं।

एक ज्ञायक भाव निर्भर महास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसह: स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभाव विवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥ १४० ॥

अर्थ– एक ज्ञायक भाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ अर्थात् ज्ञान में

ही एकाग्र होने पर जहां दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिए द्वंदमय (वर्णादिक,रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का) स्वाद लेने में असमर्थ, आत्मानुभव के स्वाद के प्रभाव के आधीन होने से निज वस्तु वृत्ति को अर्थात् आत्मा की शुद्ध परिणति को आस्वाद लेता हुआ, आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभवन में से बाहर न आता हुआ यह आत्मा ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ सकलज्ञान को एकत्व में लाता है, एक रूप में प्राप्त करता है।

इस प्रकार एक स्वरूप ज्ञान के अतीन्द्रिय रसीले स्वाद के आगे अन्य रस फीके हैं और ज्ञान स्वरूप का अनुभव करते हुए सर्वभेद भाव मिट जाते हैं।

श्री मुनि रामसिंह जी ने पाहुड़ दोहा में कहा है–

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स ॥ ४९ ॥

अर्थ– मन तो परमेश्वर में मिल गया और परमेश्वर मन से मिल गया, दोनों एक रस–समरस हो रहे हैं, तब मैं पूजन सामग्री किसको चढ़ाऊं ?

आराहिज्जइ देउं परमेसरु कहिं गयउ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ ॥ ५० ॥

अर्थ– रे जीव ! तू देव का आराधन करता है परंतु तेरा परमेश्वर कहां चला गया ? जो शिव–कल्याण रूप परमेश्वर सर्वांग में विराज रहा है,उसको तू कैसे भूल गया ?

देहादेवलि जो वसइ सतिहिं सहियउ देउ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहि भेउ ॥ ५३ ॥

अर्थ– देहरूपी देवालय में जो शक्ति सहित देव वास करता है, हे योगी! वह शक्तिमान शिव कौन है ? इस भेद को तू शीघ्र ढूंढ़।

जरइ ण मरइ ण संभवइ जो परि कोवि अणंतु।
तिहुवण सामिउ णाणमउ सो सिवदेउ णिभंतु ॥ ५४ ॥

अर्थ– जो न जीर्ण होता है, न मरता है, न उपजता है , जो सबसे परे, कोई अनंत है, त्रिभुवन का स्वामी है और ज्ञानमय है, वह शिवदेव है, ऐसा तुम निर्भ्रान्त जानो।

णिच्चु णिरामउ णाणमउ परमाणंद सहाउ।
अप्पा बुज्झिउ जेण परु तासु ण अण्णु हि भाउ ॥ ५७ ॥

अर्थ– नित्य, निरामय ,ज्ञानमय, परमानंद स्वभाव रूप उत्कृष्ट आत्मा जिसने जान लिया, उसको अन्य कोई भाव नहीं रहता अर्थात् ज्ञान से अन्य समस्त भावों को वह दूसरे का समझता है।

कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।
परम णिरंजणु जो णवइ सो परमप्पउ होइ ॥ ७७ ॥

अर्थ– जो जीव पुराने कर्मों को खिपाता है, नए कर्मों का प्रवेश नहीं होने देता तथा जो परम निरंजन तत्त्व को नमस्कार करता है, वह स्वयं परमात्मा बन जाता है।

अण्णु णिरंजणु देउ पर अप्पा दंसणणाणु ।
अप्पा सच्चउ मोक्खपउ एहउ मूढ़ वियाणु ॥ ७९ ॥

अर्थ– आत्मा ही उत्कृष्ट निरंजन देव है, आत्मा ही दर्शन ज्ञान है, आत्मा ही सच्चा मोक्षपथ है, ऐसा हे मूढ़ ! तू जान।

इसी बात को श्री महानंदि देव जी ने आणंदा में कहा है–

चिदाणंदु साणंदु जिणु, सयल सरीरहं सोई ।
महाणंदि सो पूजियइ, गगणि मंडलु थिरु होई–आणंदा रे ॥ १ ॥

अर्थ– अरे आनंद को प्राप्त करने वाले योगी ! संपूर्ण संकल्प–विकल्प को रोककर अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप चिदानंद चैतन्य भगवान की पूजा की जाती है, जो शुद्धात्मा भगवान संपूर्ण शरीर में व्याप्त है।

जो णरु सिद्धंहं झाइयउ, अरि खिपंत झायेहिं ।
मोक्खु महापुरु णीयडउ, भव दुहु पाणि ण देहिं–आणंदा रे ॥ १७ ॥

अर्थ– जो मनुष्य सिद्ध परमात्मा का ध्यान करते हैं, वे ध्यान के बल से अष्ट कर्मों को क्षय कर देते हैं। उनके लिए मोक्षनगर निकट होता है, फिर कर्म उनको संसार का दु:ख नहीं देते हैं। अरे आनंद को प्राप्त करने वाले ! फिर कर्म उनको संसार का दु:ख नहीं देता।

बंध बिहूणउ देउ सिउ, णिम्मलु मलहं विहीणु ।
कमलि णिदलु जलबिंदु जिम,णवि तसु पापु ण पुण्णु–आणंदा रे॥ १८॥

अर्थ– जो सभी प्रकार के बंधनों से विहीन है, सभी मलों से रहित है, निर्मल है, वह देव शिव है। जिस प्रकार कमलिनी के पत्ते पर स्थित पानी की बूंद उससे सर्वथा भिन्न रहती है, उसी प्रकार शिव पाप–पुण्य से सर्वथा भिन्न है, वह इनसे अछूता रहता है। अरे आनन्द को प्राप्त करने वाले ! उसी प्रकार शिव पाप–पुण्य से सर्वथा भिन्न है।

देउ सचेयणु झाइयइ, तं जिय परु विवहारु ।
एक समउ झाणे रहहि, धग धग कम्मु पयालु–आणंदा रे ॥ २० ॥

अर्थ– जो चैतन्य मूर्ति शुद्धात्मा (त्रैकालिक ध्रुव एक ज्ञायक भाव) का ध्यान करता है, वह निश्चय से परमात्मा है अन्य सभी व्यवहार है। जो एक समय

के लिए भी अपने शुद्धात्मा के ध्यान में स्थिर रहता है, उसके कर्मरूपी पयाल धग–धग करके जल जाता है। अरे आनंद को प्राप्त करने वाले ! उसके कर्मरूपी पयाल धग–धग करके जल जाता है।

सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अहंकारि परिहारु ।
सहज समाधिहिं जाणियइ, जे जिण सासण सारु–आणंदा रे ॥ २२ ॥

अर्थ– हे जीव ! अहंकार (मैं और मेरापना) अर्थात् पर में आत्म बुद्धि छोड़कर तू अपने आपका अनुभव कर। निर्विकल्प सहज समाधि में आत्मा का अनुभव होता है जो जिनशासन का सार है। अरे आनंद को प्राप्त करने वाले ! यही जिन शासन का सार है।

श्री पद्मसिंह मुनि ज्ञान सार में कहते हैं–

मणवयणकायमच्छरममत्ततणुधणकणाइ सुण्णोऽहं ।
इय सुण्णझाणजुत्तो णो लिप्पइ पुण्णपावेण ॥ ४४ ॥

अर्थ– मेरे न मन है, न वचन है, न शरीर है। मैं ईर्ष्या, द्वेष, ममत्व, शरीर, धन के लेश आदि से भी शून्य हूं। इस प्रकार शून्य ध्यान में लीन योगी पुण्य–पाप से लिप्त नहीं होता है।

सुद्धप्पा तणुमाणो णाणी चेदणगुणोहमेकोऽहं ।
इय झायंतो जोई पावइ परमप्पयं ठाणं ॥ ४५ ॥

अर्थ– शुद्ध आत्मा शरीर प्रमाण है, ज्ञानी है, चैतन्य गुण का भंडार है, ऐसा मैं एकाकी हूं। ऐसा ध्यान करने वाला योगी परमात्म पद रूप स्थान को प्राप्त करता है।

भमिदे मणुबावारे भमंति भूयाइ तेसु रायादि ।
ताण विरामे विरमदि सुचिरं अप्पा सरुवम्मि ॥ ४६ ॥

अर्थ– मन के व्यापार में भ्रमण करने पर अर्थात् मन के विषयों में चंचल होने पर प्राणी भ्रमित होते हैं। उनमें इष्ट–अनिष्ट विषयों के प्रति राग–द्वेष उत्पन्न होता है। उनके रुकने पर आत्मा अपने स्वरूप में चिरकाल के लिए विराम ले लेता है अर्थात् मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

अब्भंतरा य किच्चा बहिरत्थ सुहाइ कुणह सुण्णतणुं ।
णिच्चिंतो तह हंसो पुंसो पुण केवली होई ॥ ४७ ॥

अर्थ– बाह्य पदार्थों से होने वाले सुख ज्ञान आदि को अभ्यन्तर करके अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख से सम्पन्न होकर शरीर से शून्य हो जाओ अर्थात् शारीरिक सुखादि की ओर से एकदम अपनी दृष्टि को हटा लो, ऐसा होने पर चिंता रहित श्रेष्ठ पुरुष केवलज्ञानी हो जाता है।

''ॐ नमः सिद्धम्'' एवं वर्णमाला का आध्यात्मिक स्वरूप

जैसा कि पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि अध्यात्म शिरोमणी दसम प्रतिमा धारी पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज ने बताया था कि ॐ नमः सिद्धम् मंत्र अत्यन्त प्राचीन मंत्र है। प्राचीन काल में यह मंत्र विद्यालयों में पढ़ाया जाता भी रहा है। इसी प्रकार के विचार स्वर्गीय आचार्य देशभूषण जी महाराज, न्यायतीर्थ पूज्य झुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानंद महाराज ने भी अपने प्रवचन चर्चाओं के दौरान व्यक्त किये थे। उनके अनुसार '' ओ ना मा सी ध म्'' ॐ नमः सिद्धम् का विकृत रूप है। आज से कुछ दशाब्दियों पूर्व तक इसका शुद्ध पाठ प्रचलित था। शनैः शनैः अल्पश्रुत अध्यापकों की परम्परा से उपर्युक्त विकार आ गया तथापि इतना तो असंदिग्ध है कि विद्यारम्भ मंगल वाचन के रूप में इसका प्रचलन अति प्राचीन है।

सोलहवीं शताब्दी भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक क्रांति का समय माना जाता है। उस समय भारत के अनेक प्रांतों में आध्यात्मिक संतों का जन्म हुआ था। जिन्होंने धर्म के नाम पर फैल रहे आडम्बर पाखंडवाद के विपरीत शुद्ध अध्यात्म की अलख जगाई। संत कबीरदास जी जो आध्यात्मिक संतों में अपनी विशेषता रखते हैं। वैदिक संस्कृति के अनुसार उनका समय विक्रम संवत् १४५६ से १५७५ तक माना गया है। उन्होंने अनेकों रचनाएं लिखीं जिनमें आध्यात्मिक अनुभव और साधना संबंधी मार्ग का भी उल्लेख किया है। उनके द्वारा लिखित भजन देश के कोने-कोने में गाये जाते हैं। उनके द्वारा लिखित एक भजन यहाँ प्रस्तुत है। जिसमें उन्होंने ओ ना मा सी ध म् पढ़ने की प्रेरणा देते हुए उसका आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट किया है। जो इस प्रकार है-

पढ़ो मन ओना मा सी धं ग ॥

१. ओंकार सबै कोई सिरजै, सबद सरूपी अंग।
निरंकार निर्गुण अविनाशी, कर वाही को संग .....पढ़ो .....

२. नाम निरंजन नैनन मद्धे, नाना रूप धरंत।
निरंकार निर्गुण अविनाशी, निरखै एकै रंग .....पढ़ो.....

३. माया मोह मगन होइ नाचै, उपजै अंग तरंग।
माटी के तन थिर न रहतु है, मोह ममत के संग .....पढ़ो.....

४. शील संतोष हृदै बिच दाया, सबद सरूपी अंग।
साध के वचन सत्त करिमानों, सिर्जन हारो संग .....पढ़ो.....

५. ध्यान धीरज ज्ञान निर्मल, नाम तत्त गहंत।
कहे कबीर सुनो भाइ साधो, आदि अंत पर्यंत .....पढ़ो.....

संत कबीरदास जी के इस पद से यह स्पष्ट होता है कि उनके समय में ॐ नमः सिद्धम् ओ ना मा सी ध म के रूप में पढ़ा जाता रहा, इसलिये कबीरदास जी ने पढ़ो मन ओ ना मा सी धंग यह कहकर अपनी आध्यात्मिक स्थिति को सुदृढ़ किया है। संत कबीरदास जी भी आध्यात्मिक संत थे अतः उन्होंने भी ॐ नमः सिद्धम् के स्वरूप को भले ही आ ना मा सी धम के रूप में पाया किन्तु उसका पूरा-पूरा साधना परक आध्यात्मिक चिंतन प्रस्तुत किया है। मंत्र में सिद्धम् पद प्राप्त होता है इसके विकृत रूप में भी ॐ नमः सिद्धम् के स्थान पर ओ ना मा सी ध म कहा जाने लगा। कबीरदास जी के ओ ना मा सी धंग इस वाक्य से प्रतीत होता है कि भजन में तुकान्त लयात्मकता लाने के लिये संभवतः उन्होंने धम के स्थान पर धंग का प्रयोग किया है।

आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ऐतिहासिक नगरी पुष्पावती वर्तमान बिलहरी, जिला कटनी म.प्र. में पिता श्री गढ़ाशाह जी, माता वीर श्री देवी से उत्पन्न हुए। बचपन से आध्यात्मिक चेतना सम्पन्न होने के कारण उनका जीवन आगे चलकर आध्यात्मिक क्रांति में बदल गया। उनका समय विक्रम संवत् १५०५ से १५७२ तक रहा (सन् १४४८ से १५१५ ई.)। इस अवधि में श्री गुरु तारण स्वामी ने आत्म साधना की श्रेष्ठ अनुभूतियों को प्राप्त करने का पुरुषार्थ किया, वे पूर्व संस्कारी जीव थे। तारण स्वामी के भव में उन्होंने पूर्व संस्कारों के पुण्योदय स्वरूप वर्तमान पुरुषार्थ से अपना स्वयं का मुक्ति मार्ग तो बनाया ही, चौदह ग्रंथों की रचना भी की तथा जैन कुल में जन्म लेने के बावजूद जाति-पांति के बंधनों को तोड़कर मानव मात्र को अध्यात्म का मार्ग बताया और जन-जन के तारणहार बने। अपने चौदह ग्रंथों में उन्होंने वीतराग वाणी के अनुरूप अपने अनुभव और साधना के आधार पर आगम और अध्यात्म के सिद्धांतों को निरूपित किया। उन्होंने पंडित पूजा ग्रंथ की गाथा ३ में ॐ नमः सिद्धम् मंत्र दिया। इस गाथा में सिद्धम् को स्वभाव के रूप में सिद्ध किया है तथा कहा है कि सिद्ध स्वभाव का अनुभव करने से जीव सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सिद्ध स्वभाव का आश्रय लेने पर पर्याय में भी सिद्धत्व प्रगट हो जाता है। इस रहस्य को जो जानता है अर्थात् इसे अपने अनुभव से प्रमाणित कर स्वीकार कर लेता है वह पंडित अर्थात् सम्यक्ज्ञानी कहलाता है और वही परमात्मा की यथार्थ पूजा विधि को जानता है कि सिद्ध परमात्मा के समान निश्चय से मेरा आत्म स्वभाव भी शुद्ध है, अपने इसी निज शुद्धात्म स्वरूप में अपने उपयोग को लगाना

देव पूजा की सच्ची विधि है। गाथा इस प्रकार है–

उवं नम: विंदते जोगी, सिद्धं भवति सास्वतं।
पंडितो सोपि जानंते, देव पूजा विधीयते ॥ पंडित पूजा–३ ॥

श्री गुरु तारण स्वामी ने इस गाथा के अतिरिक्त खातिका विशेष ग्रंथ में मंगलाचरण के रूप में ॐ नम: सिद्धम् मंत्र लिखा है तथा सम्पादित श्री तारण तरण अध्यात्मवाणी के पृष्ठ ३९७,३९९ पर श्री छद्मस्थवाणी जी ग्रंथ के अध्याय २, ३ और ४ का प्रारंभ ॐ नम: सिद्धम् मंत्र से किया है, इसी ग्रंथ के अध्याय ७ और ८ के प्रथम सूत्र में ॐ नम: सिद्धम् के अभिप्राय परक आत्मा परमात्मा के अभेद अनुभव को प्रगट करने वाले सूत्र लिखे हैं।

श्री ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ आचार्य तारण स्वामी कृत वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय कराने वाला ग्रंथ है, इसमें ९०८ गाथायें हैं। जिनवाणी में प्रतिपादित आगम और अध्यात्म के अनेक विषयों का निरूपण करने के साथ–साथ श्री गुरु तारण स्वामी ने ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की जिस प्रकार सिद्धि की है और वर्णमाला का जो क्रमश: आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट किया है वह अपने आप में अद्वितीय है। आगम के सिद्धातों का आध्यात्मिक अनुभव करके उसे अपनी भाषा में निबद्ध करने वाले आचार्य श्री जिन तारण स्वामी अनूठे व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। उन्होंने द्वादशांग वाणी के आधार पर जो सैद्धांतिक विवेचना की है उसमें यह स्पष्ट किया है कि यह वस्तु स्वरूप जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित है, तीर्थंकर भगवंतों के द्वारा कहा गया है। इसके लिये श्री तारण स्वामी ने जिन उत्तं, जिन उक्तम्, कथितं जिनेन्द्रै:, उवइट्ठं जिणवरेहि इत्यादि शब्दों का भक्ति भाव सहित प्रयोग किया है, इससे जिनेन्द्र परमात्मा के दिव्य संदेश पर उनका कितना अटल विश्वास था यह सिद्ध होता है।

श्री ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ में ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की सिद्धि के पूर्व गाथा ६५८ से ७०४ तक चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया गया है। अंतिम गाथाओं में गुणस्थानातीत सिद्ध परमात्मा का स्वरूप बताते हुए कहा है–

सिद्धं सिद्ध सरूवं, सिद्धं सिद्धि सौष्य संपत्तं।
नंदो परमानंदो, सिद्धो सुद्धो मुनेअव्वा ॥
॥ ज्ञान समुच्चय सार ७०३ ॥

अर्थ– सिद्ध परमात्मा अपने सिद्ध स्वरूप को सिद्ध कर चुके हैं। उन्होंने अपने स्वरूप मे लीन होकर सिद्धि सुख की सम्पत्ति को प्राप्त कर लिया है। जो आनंद परमानंद में लीन हैं उन्हें शुद्ध सिद्ध परमात्मा जानो।

इस प्रकार सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का आराधन करते हुए उन्हें अपना

आदर्श स्वीकारते हुए ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के हार्द को व्यक्त करने का शुभारंभ किया है। गाथा ७०५ से ७११ तक ॐ नम: सिद्धम् मंत्र की सिद्धि की है, तत्पश्चात् गाथा ७१२ से ७२८ तक चौदह स्वरों का तथा गाथा ७२९ से ७६४ तक ३३ व्यंजनों का आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट किया है। इस क्रम को प्रारंभ करते हुए सर्व प्रथम ओंकार स्वरूप परमात्मा की और ॐ मंत्र की विशेषता, महिमा बताते हुए सद्गुरु कहते हैं –

उवंकारं च ऊर्ध,ऊर्ध सहावेन परमिस्टी संजुत्तो।
अप्पा परमप्पानं, विंद स्थिरं जान परमप्पा ॥ ७०५ ॥

अर्थ– ॐ मंत्र श्रेष्ठ पद है, इस मंत्र में श्रेष्ठ स्वभाव के धारी सिद्ध परमेष्ठी गर्भित हैं, वही आत्मा परमात्मा हैं, जो विंद अर्थात् निर्विकल्प, शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो गए हैं, उन्हें परमात्मा जानो।

ॐ मंत्र को जैन और वैदिक संस्कृति में विशेषता पूर्वक माना गया है। वैसे विश्व के सभी धर्मों ने ॐ मंत्र को अपना आराध्य माना है। यह मंत्र तीन अक्षरों से मिलकर बना है– अ+उ+म्, इसका सामान्यतया अर्थ इस प्रकार लिया जाता है– अ(अमृत)+उ(उत्तम)+म(मंगल) अर्थात् जो अमृत है, उत्तम है और मंगल है। जो मनुष्य को अमृतमय बना दे, उत्तमता तक ले जाए,मंगलमय बना दे, उस मंगलमय मंत्र का नाम है 'ॐ'।

जैन दर्शन में ॐ मंत्र की महत्ता इससे ही मालूम पड़ती है कि यह कहा जाता है कि 'ॐ' मंत्र में महामंत्र णमोकार के अनुसार पंच परमेष्ठी अंतर्निहित है यथा–

अरहंता असरीरा आयरिया तह च उवज्झाया मुणिणो।
पढ़मक्खररप्पिण्णो ओंकारो होदि पंच परमेट्ठी॥

इस गाथा सूत्र में जैन दर्शन के अनुसार 'ॐ' मंत्र में पंच परमेष्ठी किस प्रकार गर्भित हैं यह बताया गया है। अरिहंत का 'अ, सिद्ध परमेष्ठी अशरीरी का 'अ', आचार्य का 'आ', उपाध्याय का 'उ' और मुनि का'म्' इस प्रकार पांचों परमेष्ठियों के प्रथम–प्रथम अक्षरों का संयोग करने पर–

अ+अ+आ+उ+म्=ओम्

इस प्रकार 'ॐ' मंत्र पंच परमेष्ठी का वाचक मंत्र है।

सिक्ख परंपरा में परमात्मा को 'ॐकार सत्नाम' मंत्र द्वारा स्मरण किया जाता है, इसके लिए एक ॐकार सत्नाम सूत्र भी मिलता है। तिब्बतियों में 'ॐ मणि पद्मे हूं', इस प्रकार स्मरण किया जाता है। इस्लाम धर्मावलंबियों में 'आमीन' प्रचलित है, यह 'ॐ' से ही बना है। ईसाइयों में भी 'ॐ' से बने निम्न शब्द माने

जाते हैं– १. OMNIFIE (सर्वोत्पादक) २. OMNIFORM (सर्वरूप वाला) ३. OMNIPOTENT (सर्वशक्तिमान) ४. OMNIPRESENT (सर्वव्यापक) ५. OMNISCIENCE (अनंतज्ञान) ६. OMNISCIENT (सर्वज्ञ)

वैदिक संस्कृति में भी 'ॐ' मंत्र का विशेष महत्व है, उपनिषद् आदि ग्रंथों में इसकी विशद् विवेचना पाई जाती है।

मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है–

प्रणवो धनु: शरो हि आत्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन बेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(२–२–४)

अर्थ– प्रणव (ॐ) धनुष है, आत्मा बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्य बताया गया है, सावधानी से उसे वेधना चाहिए और बाण की तरह उसमें तन्मय हो जाना चाहिए।

योग साधना की अपेक्षा 'ॐ' मंत्र को नाद का प्रथम बीजाक्षर कहा है। इस प्रकार सभी परम्पराओं के मूलमंत्रों का आरंभ 'ॐ' से होता है क्योंकि 'ॐ' से मंत्र की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। 'ॐ' प्रणव है क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य अंतर की आत्म शक्ति को आत्मसात् कर सकता है। विश्व की समस्त ध्वनियां, विस्फोट के स्वर तथा अरिहंत तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि ॐकार रूप में अर्थात् निरक्षरी होती है।

जैनदर्शन के अनुसार 'ॐ' मंत्र व्यवहार से पंच परमेष्ठी का वाचक तथा निश्चय से निज शुद्धात्म स्वरूप का वाचक मंत्र है। शुद्धात्म स्वरूप के साधक 'ॐ' मंत्र के माध्यम से अपने विंद स्वरूप सिद्ध स्वभाव की साधना आराधना करते हैं।

'ॐ' मंत्र में जो मूल तीन अक्षर हैं अ, उ और म् इनके अन्य प्रकार से भी अर्थ होते हैं और यह मंत्र तीन लोक, सिद्ध शिला और सिद्ध परमात्मा आदि को व्यक्त करता है। जैसे अ अर्थात् अधोलोक, उ अर्थात् ऊर्ध्वलोक और म् अर्थात् मध्यलोक, इस प्रकार यह तीन अक्षर तीन लोक के प्रतीक हैं। मंत्र के ऊपर जो अर्ध चंद्र है वह सिद्ध शिला का प्रतीक है तथा अर्धचंद्र के ऊपर की बिंदी विंद स्वरूप में लीन सिद्ध परमात्मा का प्रतीक है, इस प्रकार 'ॐ' मंत्र आध्यात्मिक अर्थों में अपना विशेष स्थान रखता है।

तीन लोक के ऊपर सिद्ध परमात्मा अपने स्वरूप में लीन हैं, निर्विकल्प हैं इसलिए सद्गुरु तारण स्वामी ने कहा है– **''विंद स्थिरं जान परमप्पा''** अर्थात् जो विंद (निर्विकल्प) स्वरूप में स्थित हैं, लीन हैं, उन्हें परमात्मा जानो। 'ॐ

नम: सिद्धम्', इस मंत्र में प्रथम शब्द 'ॐ' है, इसमें बिंदु सिद्ध परमात्मा का प्रतीक है। सिद्ध परमात्मा की विशेषता बताते हुए सद्गुरु श्री जिन तारण स्वामी ने कहा है–

न्यानं सुद्ध सहावं, न्यान मयं परमप्प संसुद्धं।
न्यानं न्यान सरूवं, अप्पा परमप्प सुद्धमप्पानं॥ ७०६॥

अर्थ– सिद्ध परमात्मा ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव में लीन हैं। वे परम शुद्ध परमात्मा मात्र ज्ञानमय हैं और ज्ञान ही ज्ञान है स्वरूप उनका अर्थात् वे प्रतिपल अपने ज्ञान स्वरूप का अनुभव करते हैं, वे परमात्मा आत्म स्वरूप में स्थित शुद्धात्मा हैं।

पं. श्री दौलतराम जी ने परमात्मा के सकल और निकल दो भेदों की चर्चा करते हए सिद्ध परमात्मा का स्वरूप इस प्रकार बताया है –

ज्ञान शरीरी त्रिविध कर्म मल वर्जित सिद्ध महंता।
ते हैं निकल अमल परमातम भोगें शर्म अनंता॥
॥ तीसरी दाल, छंद ६ पूर्वार्द्ध॥

'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र की सिद्धि का प्रारंभ करते हुए श्री गुरु तारण स्वामी ने मंत्र के प्रारंभ में स्थित 'ॐ' के वाच्य स्वरूप ॐकारमयी सिद्ध परमात्मा का स्वरूप बताया। आगे उन सिद्ध परमात्मा के समान ही स्वभाव से मैं आत्मा परमात्मा हूं, यह कहते हैं –

ममात्मा ममलं सुद्धं सुद्ध सहावेन तिअर्थ संजुत्तं।
संसार सरनि विगतं अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं॥ ७०७॥

अर्थ– सिद्ध परमात्मा के समान ही निश्चयनय से मेरा आत्मा कर्म मल रहित ममल और शुद्ध है, शुद्ध स्वभाव में तन्मय रत्नत्रय स्वरूप है, संसार के परिभ्रमण से रहित है, वास्तव में यह आत्मा ही निर्मल शुद्ध परमात्मा है।

इन तीनों गाथाओं में ॐकार स्वरूप सिद्ध परमात्मा और ॐकार स्वरूप निज शुद्धात्मा का स्वभाव से निर्णय कर स्वीकार किया है कि जैसे सिद्ध परमात्मा हैं निश्चय से उनके समान ही मैं आत्मा हूं। आगे कहते हैं कि ऐसा अनुभवन करना यही ॐ नम: का अभिप्राय है–

उवं नम: एकत्वं पद अर्थं नमस्कार उत्पन्नं।
उवंकारं च विंदं विंदस्थं नमामि तं सुद्धं॥ ७०८॥

अर्थ– सिद्ध परमात्मा के समान निज शुद्धात्म स्वभाव से एकत्व होना अर्थात् निज परमात्म स्वरूप का अनुभवन करना ही ॐ नम: एकत्व है, इस अनुभव का लाभ यह है कि जिस प्रयोजनीय सिद्ध शुद्धात्म पद को नमस्कार

किया जा रहा है वह उत्पन्न हो जाता है, जहां ॐकार स्वरूप का निर्विकल्प अनुभव मात्र रहता है। विंद स्वभाव में स्थित ऐसे सिद्ध शुद्ध को नमस्कार करता हूं।

यहां भाव नमस्कार की प्रधानता है। सिद्ध के समान अपनी आत्मा को शुद्ध रूपमय अनुभवन करना यही सिद्धों की भाव वंदना है। ॐ में जो पांच परमेष्ठी गर्भित हैं उनके भीतर जो निश्चयनय से शुद्धात्मपना है वही शुद्धात्मपना मेरे में है, ऐसा अनुभव करना यही 'ॐ नमः' का अर्थ है।

ॐ नमः का अभिप्राय स्पष्ट करने के पश्चात् 'सिद्धम्' पद का अर्थ अभिप्राय कहते हैं–

सिद्धं सिद्धि सदर्थं, सिद्धं सुद्धं च निम्मलं विमलं।
दर्सन मोहंध विमुक्कं, सिद्धं सुद्धं समायरहि॥ ७०९॥

अर्थ– सत् (अस्तित्व) मात्र ही प्रयोजनीय है, ऐसी सिद्धि की प्राप्ति ही सिद्ध पद है, सिद्ध परमात्मा मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध कर चुके हैं, यह सिद्ध पद शुद्ध निर्मल विमल है, परम आनंद स्वरूप है, दर्शन मोहनीय रूप मिथ्यात्व अज्ञान के तिमिर से सर्वथा रहित है, ऐसे शुद्ध सिद्ध पद में आचरण करो।

सिद्ध करने योग्य एक मात्र मोक्ष पुरुषार्थ है, जिसकी सिद्धि होने पर यह जीव कृत–कृत्य और पूर्ण हो जाता है। जिस भव्य जीव ने मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध कर लिया है, उन्हें सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं, वे परम शुद्ध वीतरागी, शुद्धात्मा, सिद्धात्मा हैं। उनके समान अपने आत्मा को जानना, अनुभव करना यही धर्म है, जो शुद्ध स्वभाव के आश्रय से होता है।

धम्मं च चेयनत्वं, चेतन लष्यनेहि संजुत्तं।
अचेत असत्य विमुक्कं, धम्मं संसार मुक्ति सिव पंथं॥ ७१०॥

अर्थ– आत्मा का चेतनत्व गुण ही धर्म है अर्थात् आत्मा को आत्मा रूप अनुभव करना, चैतन्य लक्षण से संयुक्त होना यही धर्म है, जहां न तो अज्ञान है, न कोई मिथ्या भाव है। शरीरादि अचेतन और रागादि असत् परिणामों से रहित निज आत्म स्वभाव धर्म है, जो संसार से छुड़ाने वाला है तथा यही मोक्ष का मार्ग है।

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने पंडित पूजा ग्रंथ की गाथा में कहा है– **चेतना लक्षणो धर्मो** आत्मा का चेतना लक्षण स्वभाव ही धर्म है।

जब आत्मा कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना से रहित होकर ज्ञान चेतना का अनुभव करता है, वही धर्म है। ऐसे आत्मानुभव रूप धर्म से ही सिद्धि,मुक्ति

का मार्ग बनता है और परमात्म पद की प्राप्ति होती है।

आत्मा स्वभाव से सिद्ध परमात्मा के समान है, ऐसा अनुभव करना ही 'ॐ नमः सिद्धम्' का सार है। ॐकार स्वरूप सिद्ध स्वभाव को नमस्कार हो, इस भाव नमस्कार रूप अनुभव से साधक का मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है, इस अभिप्राय को व्यक्त करते हुए आचार्य श्री जिन तारण स्वामी कहते हैं–

पंच अष्यर उत्पन्नं, पंचम न्यानेन समय संजुत्तं।
रागादि मोह मुक्तं, संसारे तरंति सुद्ध सभावं॥ ७११॥

अर्थ– पांच अक्षर 'ॐ नमः सिद्धम्' मंत्र के वाच्य परम शुद्ध सिद्धात्मा के अनुभव से उत्पन्न साम्यभाव सहित यह भव्य जीव राग–द्वेषादि भावों से छूटकर पंचम केवलज्ञान को प्राप्त करता है तथा अपने शुद्धात्म स्वभाव में लीन रहता हुआ संसार से पार उतर जाता है।

'ॐ नमः सिद्धम्' मंत्र के जाप और ध्यान करने से, सिद्ध भगवान को भाव नमस्कार करने से और उनके समान सिद्ध स्वरूपी निज शुद्धात्मा का अनुभव करने से धर्म ध्यान होता है, पश्चात् साधु दशा में शुक्ल ध्यान होता है, जिससे ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है और पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

समस्त राग–द्वेष मोह आदि विकारों का अभाव होने से परम आनंद स्वरूप में लीनता रहती है। शेष चार अघातिया कर्मों का भी क्षय होने पर आत्मा संसार से पार हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

'ओ ना मा सी ध म' जिसका विकृत रूप बना, ऐसे 'ॐ नमः सिद्धम्' मंत्र का श्री जिन तारण स्वामी ने आध्यात्मिक स्वरूप बतलाया। इस गाथा में सद्गुरु यह कहना चाहते हैं कि आत्मार्थी जिज्ञासु मोक्षाभिलाषी जीव को इस पांच अक्षरी मंत्र के द्वारा सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का विचार कर अपने आत्मा को सिद्ध स्वरूपमय ध्यान करना चाहिए।

'ॐ नमः सिद्धम्' का अर्थ अभिप्राय स्पष्ट करने के पश्चात् आचार्य श्री जिन तारण स्वामी अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि चौदह स्वरों का आध्यात्मिक अर्थ और अभिप्राय स्पष्ट करते हैं –

अ

अप्प सहावं सुद्धं, अप्पा सुद्धप्प सद्दहइ सुद्धं।
संसार भाव मुक्कं, अप्पा परमप्पयं च संसुद्धं॥ ७१२॥

अर्थ– अपना आत्म स्वभाव शुद्ध है, निश्चय से जो जीव अपने आत्मा को शुद्धात्मा रूप श्रद्धान में लेता है, वह आत्मा रागादि रूप संसार भावों से छूटकर

परम शुद्ध परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है।

यहां प्रथम 'अ' अक्षर स्वर का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि 'अ' अक्षर से अपने शुद्धात्म स्वरूप का सत् श्रद्धान करें।

आ

आदि अनादि सुद्धं, सुद्ध सचेयन अप्प सभावं।
मिथ्यात राग विमुक्कं, आकारे विमल निम्मलं सुद्धं॥ ७१३॥

अर्थ– आत्मा अनादिकाल से शुद्ध है, यह चैतन्यमयी आत्मा का शुद्ध स्वभाव मिथ्यात्व रागादि से विमुक्त है तथा आकार में अर्थात् आत्मा के समस्त प्रदेश विमल, निर्मल और शुद्ध हैं।

यहां 'आ' अक्षर का अभिप्राय है कि आकार में अर्थात् प्रदेश अपेक्षा निर्मल आत्मा के स्वभाव का आश्रय रखो, यही हितकारी है।

इ

इस्ट संजोयं सुद्धं, इय दंसन न्यान चरन सुद्धानं।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, अप्पा परमप्पयं च जानेहि॥ ७१४॥

अर्थ– इष्ट शुद्ध स्वभाव को संजोओ यह शुद्ध स्वभाव सम्यक्दर्शन, ज्ञान चारित्र मयी शुद्ध है, मिथ्यात्व शल्य आदि से विमुक्त है, इसी शुद्ध स्वभावी आत्मा को परमात्मा जानो।

यहां 'इ' अक्षर के माध्यम से अपने रत्नत्रयमयी इष्ट प्रयोजनीय शुद्ध स्वभावी आत्मा को परमात्म स्वरूप जानने की प्रेरणा दी गई है।

ई

ईर्जा पंथ निवेदं, तिअर्थं संजुत्त न्यान सम्पन्नं।
कुन्यान मोह विरयं, ईर्जा पंथ सु निम्मलं सुद्धं॥ ७१५॥

अर्थ– ईर्या पथ अर्थात् सरल मोक्षमार्ग का अनुभव करो, यह मोक्षमार्ग रत्नत्रय से युक्त ज्ञान से संपन्न है। यहां कुज्ञान और मोह नहीं रहता। स्वरूप के आश्रय से होने वाला यही निर्मल शुद्ध सरल मुक्ति को प्राप्त करने का मार्ग है।

यहां 'ई' अक्षर का अभिप्राय बताया है कि मुक्ति को प्राप्त करने का सरल मार्ग रत्नत्रय से परिपूर्ण ज्ञानमय है।

उ

उत्पन्न न्यान सुद्धं, न्यान मई निस्च तत्त ससरुवं।
तत्तु अतत्तु निवेदं, मल मुक्तं च दंसनं ममलं॥ ७१६॥

अर्थ– जो जीव तत्त्व और अतत्त्व को यथार्थ रूप से जानता है और निश्चय से ज्ञानमयी तत्त्व स्व स्वरूप का अनुभव करता है, उसको शुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वही जीव रागादि मलों से रहित अपने ममल स्वभाव का दर्शन करता है।

यहां 'उ' अक्षर के माध्यम से तत्त्व, अतत्त्व का यथार्थ निर्णय कर शुद्ध ज्ञान को उत्पन्न करके ममल स्वभाव का दर्शन करने की प्रेरणा दी गई है।

ऊ

ऊर्धं ऊर्ध सभावं, ऊर्धं संजुत्तु दिट्ठी दंसनं ममलं।
विषय कषाय विमुक्कं, ऊर्धं संमत्त सुद्ध संवरनं॥ ७१७॥

अर्थ–आत्मा का ऊर्ध गमन स्वभाव श्रेष्ठ है, इसी ऊर्ध्वगामी, ममल स्वभाव में दृष्टि का संयुक्त होना ही आत्म दर्शन है, इसी को सम्यक्दर्शन कहते हैं। विषय कषायों से विमुक्त होकर जो जीव ऐसे श्रेष्ठ सम्यक्त्व को धारण करता है, वही शुद्ध संवर को प्राप्त होता है।

यहां 'ऊ' अक्षर का सार बताते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा के ऊर्ध्वगामी स्वभाव का अनुभवन करना, अपनी दृष्टि ममल स्वभाव में लगाना,यही निश्चय सम्यक्दर्शन है, जो संवर रूप है अर्थात् कर्मों के आस्रव को रोकने वाला है।

ऋ

ऋजु विपुलं च सहावं, सुद्ध झानेन न्यान संजुत्तं।
संसार सरनि विरयं, अप्पा परमप्प सुद्ध सभावं॥ ७१८॥

अर्थ– शुद्ध ध्यान में लीन होकर साधु ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। वे वीतरागी योगी अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होकर संसार के जन्म–मरण से छूटकर आत्मा से परमात्मा हो जाते हैं।

इस गाथा में 'ऋ' अक्षर के सार स्वरूप साधु शुद्ध ध्यान में लीन होकर मन: पर्यय ज्ञान को प्रगट करते हुए केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं यह कहा गया है।

ॠ

रीनं कम्म कलंकं, रीनं चौगई संसार सरनि मोहंधं ।
रुचियंति ममल झानं, धम्मं सुक्कं च ममल अप्पानं ॥ ७१६ ॥

अर्थ– जिन जीवों को ममल स्वरूप के ध्यान की रुचि जागी, उन्होंने ममल आत्म स्वरूप को धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में ध्याते हुए कर्म के कलंक को धो दिया है तथा संसार की चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करानेवाले मोह रूपी अंधकार को भी क्षय कर दिया है ।

यहां 'ॠ' अक्षर के माध्यम से यह बताया गया है कि जो भव्य जीव अपने आत्म स्वरूप की रुचि जाग्रत करते हैं, आत्म कल्याण की भावना भाते हैं तथा धर्म, शुक्ल ध्यान में अपने ममल स्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं, वे समस्त कर्म कलंक को क्षय करके परमात्मा हो जाते हैं ।

ऌ

लिंगं च जिनवरिंदं, छिन्नं परभाव कुमय अन्यानं ।
अप्पा अप्प संजुत्तं, परमप्पा परम भावेन ॥ ७२० ॥

अर्थ– जो जिनेन्द्र भगवान के समान भाव और द्रव्यलिंग के धारी हैं, वे वीतरागी साधु परभाव अर्थात् रागादि भाव कुमति और अज्ञान को क्षय करने वाले हैं, वे अपनी आत्मा से अपनी आत्मा में लीन होकर उत्कृष्ट शुद्ध भाव के द्वारा ध्यान के प्रताप से परमात्मा हो जाते हैं ।

यहां 'ऌ' अक्षर के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि वीतरागी साधु समस्त रागादि विकारों को क्षय कर अपने आत्म स्वरूप में लीन होकर अपने परमात्म पद को प्राप्त कर लेते हैं ।

ॡ

लीला अप्प सहाव, पर दव्वं चवई सव्वहा सव्वे ।
अप्पा परमप्पानं, लीला परमप्प निम्मलं न्यानं ॥ ७२१ ॥

अर्थ– अपने आत्म स्वभाव की लीला अर्थात् महिमा बड़ी अपूर्व है, जिसका आश्रय लेने पर समस्त पर द्रव्यों का सर्वथा त्याग हो जाता है और यह आत्मा परमात्मा हो जाता है । आत्म स्वभाव की ऐसी लीला अर्थात् महिमा है कि स्वरूप में रमणतारूप क्रीड़ा करने पर आत्मा निर्मल परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है ।

यहां 'ऌ' अक्षर का सार बताया है कि आत्म स्वभाव की ऐसी लीला अर्थात्

महिमा है कि जिसका आश्रय लेने पर समस्त पर द्रव्यों का सर्वथा त्याग हो जाता है और आत्म स्वरूप में लीन होने पर आत्मा निर्मल ज्ञानमयी परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है ।

ए

एयं सुद्ध सहावं, एयं संसार सरनि विगतोयं ।
एयं च सुद्ध भावं, सुद्धप्पा न्यान दंसनं सुद्धं ॥ ७२२ ॥

अर्थ– आत्मा का शुद्ध स्वभाव एक अखण्ड अविनाशी है यही एक स्वभाव संसार के परिभ्रमण से रहित है । यही एक स्वभाव आत्मा का शुद्ध स्वभाव है, जो शुद्ध ज्ञान दर्शनमयी शुद्धात्मा है ।

यहां 'ए' अक्षर का अभिप्राय यह है कि आत्म स्वभाव एक है । यह संसार के परिभ्रमण से रहित है यही अखंड अविनाशी स्वभाव शुद्ध ज्ञान दर्शनमयी शुद्धात्मा है ।

ऐ

ऐयं इय अप्पानं, अप्पा परमप्प भावना सुद्धं ।
रागं विषय विमुक्कं,सुद्ध सहावेन सुद्ध सम्मत्तं ॥ ७२३ ॥

अर्थ– जहां एक मात्र अपने आत्म स्वरूप का आश्रय होता है, वहां आत्मा परमात्मा की शुद्ध भावना होती है । शुद्ध स्वभाव के अनुभव से ही शुद्ध सम्यक्त्व होता है, इसी के बल से जीव पांच इन्द्रियों के विषय और रागादि से छूट जाता है ।

यहां 'ऐ' अक्षर का सार यह है कि अपने एक मात्र आत्म स्वभाव के आश्रय और लीनता से शुद्ध सम्यक्त्व पूर्वक जीव रागादि विकारों से छूट जाता है ।

ओ

उवं ऊर्ध सहावं, अप्पा परमप्प विमल न्यानस्य ।
मिथ्या कुन्यान विरयं, सुद्धं च ममल केवलं न्यानं ॥ ७२४ ॥

अर्थ– ॐकारमयी शुद्धात्मा का श्रेष्ठ स्वभाव है, जब आत्मा अपने इसी विमलज्ञानमयी परमात्म स्वरूप में रत होता है, तब मिथ्यात्व कुज्ञान का पूर्णतया अभाव हो जाता है और ॐकारमयी श्रेष्ठ शुद्ध स्वभाव में लीन होने पर ममल केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

यहां 'ओ' अक्षर का अभिप्राय बताते हुए बताया गया है कि ॐकार स्वरूप

शुद्धात्मा श्रेष्ठ स्वभाव का धारी है, इसी में लीन होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

ओं

औकासं उवएसं, औकासं विमल झान अप्पानं।
संसार विगत रुवं, औकासं लहन्ति निव्वानं॥ ७२५॥

अर्थ– जिनेन्द्र भगवान ने संसार से विरक्त होकर अपने आत्म स्वभाव में रहने का उपदेश दिया है। अपने आत्म स्वरूप का विमल निर्मल ध्यान धारण करना ही अपने स्वरूप में रहने रूप अवकास है, यही सच्चा पुरुषार्थ है। इसी से जीव संसार के विभावों से छूटता है और अपने स्वरूप में रमणता रूप अवकास मयी पुरुषार्थ से निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

यहां 'औ' अक्षर से अवकास अर्थात् स्वरूप में रमणता रूप पुरुषार्थ से निर्वाण प्राप्त करने की प्रेरणा दी गई है,इसी पुरुषार्थ से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

अं

अप्पा परमप्पानं, घाय चवक्कय विमुक्क संसारे।
रागादि दोस विरयं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं॥ ७२६॥

अर्थ– आत्मा स्वभाव से परमात्मा है, यह आत्मा रागादि दोषों से विरक्त होकर अपने स्वभाव में लीन होता है, जिससे संसार में परिभ्रमण कराने वाले चार घातिया कर्मों से छूटकर आत्मा स्वयं ही निर्मल शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

यहां 'अं' अक्षर का सार बताया है कि आत्मा अपने स्वभाव में लीन होकर रागादि दोष और चार घातिया कर्मों को नष्ट करके परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है।

अः

अह अप्पा परमप्पा, न्यान संजुत्त सुदंसनं सुद्धं।
संसार सरनि विमुक्कं, परमप्पा लहै निव्वानं॥ ७२७॥

अर्थ– अहा ! यह आत्मा ही परमात्मा है, शुद्ध सम्यक्दर्शन, ज्ञान से संयुक्त होकर संसार के परिभ्रमण से छूटकर अपने आत्म स्वरूप को ध्याता हुआ आत्मा परमात्मा होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

यहां 'अ:' अक्षर स्वर के द्वारा अपने शुद्धात्म स्वरूप का बहुमान जगाया

है कि अहो ! यह आत्मा ही परमात्मा है। निश्चयनय की अपेक्षा स्वभाव से प्रत्येक जीव परमात्मा है, यह आत्मा का कारण समयसार स्वरूप है। जब आत्मा अपने सत् स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान करता है और स्वरूप में लीन होता है, तब रत्नत्रय की एकता रूप मोक्षमार्ग में चलकर आत्मा पर्याय में भी परमात्म पद प्रगट कर लेता है, यह आत्मा का कार्य समयसार स्वरूप है।

❖❖❖

चौदह स्वरों का सार–शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव

सुर चौदस संसुद्धं, नंत चतुस्टय विमल सुद्धं च।
सुद्धं न्यान सरुवं, सुरविंदं ममल न्यान ससहावं॥ ७२८॥

अर्थ– चौदह स्वरों के द्वारा परम शुद्ध, अनंत चतुष्टयमयी निश्चय से कर्म मलरहित निर्दोष आत्मा के शुद्ध ज्ञान स्वरूप का ध्यान करो। इन चौदह स्वरों के द्वारा ममल ज्ञान स्वभावी शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करो।

इस प्रकार यहाँ चौदह स्वरों को लेकर आत्म तत्त्व का विचार किया है। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि चौदह स्वरों की अपेक्षा से अपने आत्मा के परमात्म स्वरूप का चिंतन–मनन किया गया है अर्थात् इन चौदह स्वरों के माध्यम से आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का स्वयं रसास्वादन किया तथा आत्मार्थी जिज्ञासु भव्यात्माओं के लिये भी चौदह स्वरों के माध्यम से अपने अक्षर स्वरूप अर्थात् अक्षय,अविनाशी शुद्धात्म तत्त्व का चिंतन–मनन और अनुभव करने की प्रेरणा दी है।

यहाँ प्रश्न यह है कि आपने १४ स्वरों का उल्लेख किया है और १६ स्वरों का वर्णन किया है फिर स्वर १४ माने जावें अथवा १६ स्वर माने जावें ?

उसका समाधान यह है कि व्याकरण में अं और अ: को स्वर नहीं माना गया है, किंतु अनुस्वार और विसर्ग को प्रदर्शित करने के लिये किसी स्वर का आश्रय लेना पड़ता है क्योंकि बिना स्वर की सहायता के अनुस्वार और विसर्ग का उच्चारण संभव नहीं है इसलिये अ स्वर का सहारा लेकर अनुस्वार और विसर्ग को दर्शाया गया है इसलिये स्वर १६ न होकर १४ ही माने जावेंगे। व्याकरण के इस नियम के अनुसार आचार्य श्री मद् जिन तारण स्वामी ने यहां १४ स्वरों का ही प्रयोग किया है।

तैंतीस व्यंजन निरूपण

चौदह स्वरों के पश्चात् व्यंजनों का आध्यात्मिक स्वरूप वर्णन प्रारंभ करते हैं। प्रारंभिक क्रम में व्यंजनों की वास्तविकता और उनके द्वारा जिस साध्य की सिद्धि करना है, उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं –

विंजन स एन सुद्धं, सुद्धप्पा न्यान दंसनं परमं।
परमं परमानंदं, न्यान सहावेन विंजनं विमलं ॥ ७२९ ॥

अर्थ– वही व्यंजन शुद्ध हैं,जिनके द्वारा उत्कृष्ट दर्शन,ज्ञानमयी शुद्धात्मा का बोध हो, श्रेष्ठ परमानंद की प्राप्ति हो। ज्ञान स्वभाव के आश्रय से विमल, निर्मल स्वभाव का अनुभव हो, वही व्यंजन, व्यंजन हैं।

चौदह स्वरों के माध्यम से अपने आत्म स्वरूप का आराधन करने के पश्चात् अब व्यंजनों के द्वारा अपने आत्म स्वरूप की आराधना का प्रारंभ करते हुए यहाँ कहते हैं कि वही शुद्ध व्यंजन हैं जिनके द्वारा ज्ञान दर्शनमयी चैतन्य स्वभाव का बोध हो,श्रेष्ठ आनंद परमानंद की प्राप्ति हो, यही व्यंजनों की सार्थकता है।

क

कका कम्म षिपनं, कका वर झान केवलं न्यानं।
कका कमल सुवन्नं, कम्मं षिपति सुद्ध झानत्थं ॥ ७३० ॥

अर्थ– 'क' अक्षर कहता है कि कर्मों का क्षय करो। 'क' अक्षर का अभिप्राय है कि श्रेष्ठ ध्यान धारण कर केवलज्ञान को प्रगट करो। 'क' अक्षर कहता है कि केवलज्ञान होने पर स्वर्णमयी कमलों की रचना होगी अर्थात् 'क' अक्षर उन स्वर्णमयी कमलों की स्मृति कराता है, जिनको तीर्थंकर भगवान के अरिहंत अवस्था के समय विहार करते समय देवता रचना करते हैं। 'क' अक्षर का सार यही है कि आत्मा के शुद्ध ध्यान में स्थित होकर कर्मों को क्षय करो।

'क' कहता है कि कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान प्रगट करो। 'क' अक्षर का अभिप्राय यह है कि शुद्ध ध्यान में स्थित होकर संपूर्ण कर्मों को क्षय करने से सिद्धि मुक्ति की प्राप्ति होती है।

ख

षषा षिपति सुकम्मं, षिपक स्रेनि षवइ संसारं।
मिथ्या कुन्यान षिपनं, अप्प सरूवं च न्यान सहकारं ॥ ७३१ ॥

अर्थ– 'ख' (ष) अक्षर का सार यह है कि अपने आत्म स्वरूप ज्ञान स्वभाव

को स्वीकार करने से मिथ्यात्व कुज्ञान क्षय हो जाता है, कर्म भी खिप जाते हैं अर्थात् निर्जरित हो जाते हैं। क्षपक श्रेणी आरोहण करने से संसार भी क्षय हो जाता है अर्थात् छूट जाता है।

यहां 'ष' अर्थात् 'ख' अक्षर का सार बताते हुए कहा है कि अपने स्वभाव को स्वीकार करने पर मिथ्यात्व कुज्ञान कर्म और क्षपक श्रेणी पर चढ़ने से संसार का भी क्षय हो जाता है। जैन दर्शन में करणानुयोग के अंतर्गत चौदह गुणस्थान का विवेचन किया गया है, वहां श्रेणी के दो भेद किए हैं– उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी।

जो साधु चारित्र मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम करते हैं वे उपशम श्रेणी पर चढ़ते हैं, इसके चार गुणस्थान हैं– आठवां, नवां, दसवां और ग्यारहवां। उपशम श्रेणी चढ़ने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे गिर जाता है। जो साधु इक्कीस प्रकृतियों का क्षय करते हैं वे क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं, इसके भी चार गुणस्थान हैं– आठवां, नवां, दसवां और बारहवां। क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले साधु नियमत: मोहनीय कर्म का क्षय करके शेष घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञानी परमात्मा हो जाते हैं।

यहां प्रश्न है कि 'ष' को 'ख' के रूप में उच्चारण क्यों किया जा रहा है ? उसका समाधान यह है कि प्राचीन काल में 'ओ ना मा सी धम' के उच्चारण पूर्वक पाटी की शिक्षा दी जाती थी, उन पाटियों में 'इ्' को 'इ' 'ई्' को 'ई' तथा 'ष' को 'ख' पढ़ा जाता था।

जिन बुजुर्गों ने पुराने समय की पाटी की पढ़ाई पढ़ी है, वे इस बात को अच्छी तरह जानते होंगे, उसी आधार पर यहां 'ष' को 'ख' के रूप में उच्चारण किया जा रहा है।

ग

गगा गमन सहावं, न्यानं झानं च अप्पयं विमलं।
तिक्तंति सयल मोहं, विक्त रूवेन भावना निस्चं ॥ ७३२ ॥

अर्थ– 'ग' अक्षर का अभिप्राय है कि अपने गमन स्वभावी अर्थात् परिणमन और ज्ञान स्वभावी आत्मा को पहिचानो। अपने स्वरूप से प्रगट शुद्धात्म स्वरूप की निश्चय भावना भाने से संपूर्ण मोह छूट जाता है इसलिए विमल निर्मल अपने आत्म स्वरूप का ही ज्ञान करो और उसी का ध्यान करो।

जीव नामक पदार्थ एकत्व पूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है। यह जीव सदा ही परिणाम स्वरूप स्वभाव में रहता हुआ होने

से उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकता रूप अनुभूति लक्षण युक्त सत्ता सहित है और चैतन्य स्वरूपमय होने से नित्य उद्योत रूप निर्मल स्पष्ट दर्शन, ज्ञान ज्योति स्वरूप है क्योंकि चैतन्य का परिणमन दर्शन, ज्ञान स्वरूप है। एक ही समय में परिणमन करना और जानना आत्मा का स्वभाव है, इसी को यहां गमन स्वभाव कहा गया है, इसी को जानना पहिचानना इष्ट और प्रयोजनीय है, यही 'ग' अक्षर का सार है।

घ

घ घाय कम्म मुक्कं, घन असमूह कम्म निद्दलनं।
घन न्यान झान सुद्धं, सुद्ध सरूवं च सुद्धमप्पानं॥ ७३३॥

अर्थ– 'घ' अक्षर कहता है कि आत्मा के साथ अनादिकाल से प्रवाह रूप बंधे चले आये हुए ज्ञानावरण आदि घातिया कर्म का नाश करो, इससे मुक्त हो जाओ, अत्यंत प्रगाढ़ रूप से बांधे हुए अनंत कर्मों के समूह को क्षय करो, इसके लिए ज्ञान घन स्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान धारण करो इसी से अपना शुद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा प्रगट प्रकाशमान होगा।

यहां 'घ'अक्षर के द्वारा अपने ज्ञान घन स्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान धारण कर कर्मों को क्षय करने की प्रेरणा दी गई है।

ङ

नाना प्रकार सुद्धं, न्यानं झानं च सुद्ध ससरूवं।
निदलंति कम्म मलयं, नंतानंत चतुस्टयं ममलं॥ ७३४॥

अर्थ– आत्मा अनेक प्रकार से शुद्ध है अर्थात् संशय, विभ्रम, विमोह आदि दोषों से रहित है, निश्चय से द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म भी आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं, इसी शुद्ध ज्ञानमयी स्व स्वरूप का ध्यान धारण करो। सम्यक्ज्ञान सहित अपने शुद्ध स्वरूप का ध्यान कर्मरूपी मल को नाश कर डालता है तथा अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य का प्रकाश कर देता है।

यहां 'ङ' अक्षर पर विचार किया है, जिसको 'न' के रूप में ध्यान में लेकर नाना प्रकार से शुद्ध अपने ज्ञानमयी स्वरूप के ध्यान की महिमा बताई है कि अपने शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान से ही कर्म मल का अभाव होता है और अनंत चतुष्टय का प्रकाश हो जाता है।

च

चेयन गुन संजुत्तं, चित्तं चिंतयन्ति तियलोयं।
गय संकप्प वियप्पं, चेयन संजुत्त अप्प ससरूवं॥ ७३५॥

अर्थ– चैतन्य गुण से संयुक्त होना ही प्रयोजनीय है, यही साधक का मुख्य लक्ष्य है। धर्म ध्यान की साधना के अंतर्गत चित्त तीन लोक के स्वरूप का चिंतन, विचार करता है परंतु जब चित्त संकल्प–विकल्प से रहित होता है तब चैतन्य गुणमयी अपना निज स्वरूप अनुभव में आता है।

यहां 'च' अक्षर का अभिप्राय बताते हुए कहा है कि ज्ञान की सूक्ष्म पर्याय का नाम चित्त है, जो कर्मादि संयोग के कारण अशुद्ध हो रहा है। साधक धर्म ध्यान की साधना के अंतर्गत चित्त को धर्म की साधना, आराधना में लगाते हैं और संस्थान विचय धर्मध्यान के अंतर्गत तीन लोक के स्वरूप का चिंतन करते हैं, तब तक सविकल्प दशा रहती है परंतु स्वभाव के लक्ष्य से आत्मोन्मुखी होकर चित्त को अपने स्वभाव में एकाग्र करते हैं तब समस्त संकल्प–विकल्प का अभाव हो जाता है और चैतन्य गुणमयी निज स्वरूप ही अनुभव में आता है।

छ

छै काय क्रिया जुत्तं, क्रिया ससहाव सुद्ध परिनामं।
संसार विषय विरयं, मल मुक्कं दंसनं ममलं॥ ७३६॥

अर्थ– जो साधक छह काय के प्राणियों के प्रति दया भाव रखता है, अपने स्व स्वभाव केआश्रय से शुद्ध परिणाम पूर्वक क्रिया अर्थात् व्यवहार आचरण का पालन करता है, वह संसार के विषय विस्तार से विरत रहता हुआ रागादि मलों से रहित अपने ममल स्वभाव का दर्शन करता है।

यहां 'छ' अक्षर का सार यह है कि छह काय के प्राणियों पर दया भाव रखो। शुद्ध भाव पूर्वक अहिंसामयी व्यवहार आचरण का पालन करो। जो साधु अथवा साधक इस प्रकार चारित्र का पालन करते हैं वे सांसारिक प्रपंचों से विरक्त रहते हुए अपने ममल स्वभाव का दर्शन करते हैं।

ज

जैवंतं जिनवयनं, जयवंतं विमल अप्प सहावं।
कम्म मल पयडि मुक्कं, अप्प सहावेन न्यान ससहावं॥ ७३७॥

अर्थ– जिन वचन अर्थात् जिनवाणी जयवंत हो। उस वाणी के द्वारा प्रगट

आत्मा का विमल स्वभाव जयवंत हो। आत्मा का स्व स्वभाव ज्ञानमयी है, इसी आत्म स्वभाव में रहने से आत्मा समस्त कर्म मलों की प्रकृतियों से मुक्त हो जाता है।

यहां 'ज' अक्षर के द्वारा जिन वचनों की और आत्म स्वभाव की महिमा बताई गई है और यह स्पष्ट किया है कि इसी महिमामयी स्वभाव में रहने पर कर्मों की निर्जरा और मुक्ति की प्राप्ति होती है। अपने आत्म स्वभाव का बहुमान और आल्हाद रूप सुखानुभव करते हुए आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने श्री भय षिपनिक ममलपाहुड़ ग्रंथ के फूलना क्रमांक १५३ में कहा है–

''जय जयना ले, जय जयो जिनेन्द्र जयना ले ॥''

अर्थ– जय हो, जय हो जिनेन्द्र स्वभाव की जय हो, हे आत्मन्! अपने जिनेन्द्र स्वभाव को जीत ले।

ञ

ज्ञान सहावं सुद्धं, धम्मं सुक्कं च ज्ञान निम्मलयं।
कम्म कलंक विमुक्कं, न्यानमइ ज्ञानारुढ़ संजुत्तो ॥ ७३८ ॥

अर्थ– शुद्ध स्वभाव का ध्यान धारण करो। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान ही निर्मल ध्यान है, जो सम्यक्दृष्टि ज्ञानी भव्य जीव ज्ञानमयी आत्म स्वभाव के ध्यान में आरूढ़ होते हैं, अपने स्वभाव में लीन होते हैं, वे कर्मों के कलंक से छूट जाते हैं।

सम्यक्दर्शन ज्ञानपूर्वक होने वाला ध्यान सच्चा ध्यान है। इसको ही धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान कहते हैं। यहां 'झ' अक्षर द्वारा शुद्ध स्वभाव का ध्यान धारण करने की प्रेरणा देते हुए कहा है कि शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान के बल से कर्म क्षय हो जाते हैं और परमात्म पद की प्रगटता होती है।

ञ

नंतानंत सुदिट्ठं, नंतं संसार सरनि विलयन्ति।
विलयंति कम्म मलयं, न्यान सहावेन सुद्ध भावं च ॥ ७३९ ॥

अर्थ– अनंतानंत ज्ञानादि गुणोंमयी अपने आत्म स्वभाव को देखो, इसी का अनुभव करो, इससे अनंत संसार में होने वाला जन्म–मरण परिभ्रमण विला जाता है। ज्ञान स्वभाव के आश्रय से शुद्ध भाव में रहने पर समस्त कर्म मल विला जाते हैं अर्थात् निर्जरित क्षय हो जाते हैं।

'च' वर्ग का पांचवां अक्षर 'ञ' है। यहां उसके स्थान पर 'न' के रूप में विचार किया गया है। आत्मा अनंत ज्ञानादि गुणों का भंडार है, जो कोई भव्य जीव परम श्रद्धा सहित अपने आत्म स्वरूप का अनुभव करते हैं, उनका संसार में जन्म–मरण परिभ्रमण करना छूट जाता है। शुद्ध स्वभाव में रहने से कर्म मल भी क्षय हो जाते हैं। यही 'ञ' अक्षर का सार है।

ट

टंकोत्कीर्नं ममलं, मल संसार सरनि विलयं च।
अप्प सहाव सुदिट्ठं, निद्दिट्ठं संजदो रुवं ॥ ७४० ॥

अर्थ– आत्मा का ममल स्वभाव टांकी से उकेरे हुए चिन्हों के समान सुस्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभव गम्य है, जिसमें संसार में परिभ्रमण कराने वाला कोई भी कर्ममल और रागादि विकार नहीं है। ऐसे परम शुद्ध आत्म स्वभाव को जो भले प्रकार देखते अर्थात् अनुभव करते हैं, यही संयमी साधु का स्वरूप कहा गया है।

'ट' अक्षर का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए यहां कहा गया है कि आत्मा टंकोत्कीर्ण ममल स्वभावी है, जो त्रिकाल शुद्ध है और अपने स्वरूप से प्रत्यक्ष प्रगट आनंदमयी है। ऐसे सत्स्वरूप की साधना, आराधना में निरंतर तल्लीन रहते हैं, उनको ही संयमी कहा जाता है।

ठ

ठानं झानं झायदि, झायदि सुद्धं च ममल न्यानस्य।
झायंति सुद्ध भावं, कम्म मल तिक्त असुह संसारे ॥ ७४१ ॥

अर्थ– सम्यक्दृष्टि ज्ञानी वीतरागी साधु हर स्थान में अथवा छटवें आदि हर गुणस्थान में आत्म ध्यान को ध्याते हैं, ममल ज्ञानमयी शुद्ध स्वभाव का ध्यान धारण करते हैं। निरंतर शुद्ध भाव के ध्यान में ही लीन रहते हैं। जिससे पुण्य–पाप आदि कर्म मलों से पृथक् हो जाते हैं।

यहां 'ठ' अक्षर का सार बताते हुए कहा है कि साधु हर गुणस्थान में अथवा साधुओं के गुणस्थान छह से बारह तक होते हैं, इन गुणस्थानों में वे अपने आत्म स्वरूप का ध्यान करते हुए धर्म, शुक्ल ध्यान को ध्याते हुए शुद्धोपयोग की निर्मलता के बल से चार घातिया कर्म का नाश करके केवलज्ञानी परमात्मा हो जाते हैं, फिर तीसरे, चौथे शुक्ल ध्यान के बल से चार अघातिया कर्मों को क्षय करके सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं और इस जन्म–मरण रूप संसार चक्र से हमेशा के लिए छूट जाते हैं।

ड

डंड कपाटं दिट्ठं, दिट्ठं विमल दंसनं सुद्धं ।
मिथ्यात राग विलयं, संसारे तजंति मोहंधं ॥ ७४२ ॥

अर्थ– केवली समुद्घात में डंड कपाट प्रतर लोकपूर्ण करने वाले अरिहंत परमात्मा को जिसने जाना है, उसने ही दोष रहित शुद्ध सम्यक्दर्शन को अनुभव किया है अर्थात् अपने आत्म स्वरूप को जाना है, उस जीव का मिथ्यात्व, राग विला जाता है, संसार में कारणभूत मोहरूपी अंधकार को वे तज देते हैं अर्थात् निश्चय ही उनका मोह टूट जाता है ।

यहां 'ड' अक्षर का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री जिन तारण स्वामी कहते हैं कि जो जीव अरिहंत भगवान को यथार्थ रूप से जानता है, वह अपने आत्म स्वरूप को जानता है, उसका मिथ्यात्व राग, मोहांध छूट जाता है। आचार्य कुंदकुंददेव ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए प्रवचनसार में कहा है –

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥

अर्थ– अरिहंत भगवान को जो द्रव्य, गुण और पर्याय से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है, निश्चय ही उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है ।

ढ

ढ परमप्पा झानं, न्यान सरुवं च अप्प सभावं ।
विकहा कषाय विरयं, अप्पा परमप्प भावना सुद्धं ॥ ७४३ ॥

अर्थ– अपना आत्म स्वभाव ज्ञान स्वरूपमय है, यही परमात्मा है, इसका ध्यान करो,'ढ' अक्षर का सार यही है । मैं आत्मा परमात्मा हूं ऐसी शुद्ध भावना भाने से विकथा और कषाय आदि विकार छूट जाते हैं ।

जैसे वर्णमाला में बच्चों को 'ढ' का ढक्कन पढ़ाया जाता है, अध्यात्म में उसका भाव यह है कि मैं आत्मा परमात्मा हूं , ऐसी शुद्ध भावना सहित अंतर में परमात्म स्वरूप के ध्यान का ढक्कन लगा दो, जिससे विकथा,कषाय आदि के विकार अंदर प्रवेश न करें ।

ण

नाना प्रकार दिट्ठं, न्यानं झानेन सुद्ध परमिस्टि ।
न्यानेन न्यान सुद्धं, न्यान सहावेन सुद्ध ससहावं ॥ ७४४ ॥

अर्थ– नाना प्रकार से देखो तब भी एक ही बात प्रगट होती है कि परमेष्ठी

स्वरूप शुद्धात्मा के ध्यान से ही ज्ञान प्रकाशित होता है । ज्ञान से ही ज्ञान की शुद्धि होती है, ज्ञान स्वभाव के आश्रय से अपना शुद्ध स्व स्वभाव अनुभव में झलक जाता है ।

यहां 'ण' अक्षर को 'न' के रूप में चिंतन करते हुए उसका सार बताया है कि नाना प्रकार से देखने पर भी एक मात्र शुद्ध स्वभाव में उपयोग लगाना ही प्रयोजनीय है, यही परमेष्ठी स्वभाव है, इसी के ध्यान से ज्ञान प्रगट होता है । साधना के मार्ग की विशेषता बताते हुए यहां सद्गुरु कहते हैं कि ज्ञान से ही ज्ञान की शुद्धि होती है । ज्ञान स्वभाव के आश्रय से ही स्वानुभव प्रसिद्ध होता है ।

त

तरंति सुद्ध भावं, तिक्तं तिय भाव सयल मिच्छत्तं ।
अप्पा परु पिच्छंतो, तरंति संसार सायरे घोरे ॥ ७४५ ॥

अर्थ– शुद्ध भाव ही जीव को संसार से तारने वाला है, जिन सम्यक्दृष्टि, ज्ञानी, आत्मार्थी, भव्य आत्माओं के जीवन में तीनों प्रकार के समस्त मिथ्यात्व भाव छूट गए हैं, वे आत्मा और पर को यथार्थ रूप से पहिचानते हुए घोर संसार सागर से तिर जाते हैं अर्थात् संसार रूपी समुद्र से पार हो जाते हैं ।

पर्याय बुद्धि मिथ्यात्व है, स्वभाव दृष्टि सम्यक्त्व है । शुभ–अशुभ भाव, पुण्य–पाप कर्म बंध के कारण हैं, शुद्ध भाव जीव को संसार से पार लगाने वाला है। जिन आत्मार्थी, ज्ञानी सत्पुरुषों ने तीनों प्रकार के मिथ्यात्व भाव का त्याग कर दिया है वे भेदज्ञानपूर्वक स्व–पर को यथार्थ जानते और अनुभव करते हैं, उनको ही शुद्ध भाव प्रगट होता है, इसी शुद्ध भाव से ज्ञानीजन घोर संसार रूपी समुद्र से पार होकर तिर जाते हैं । इस प्रकार यहां 'त' अक्षर का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है ।

थ

थानं च सुद्ध झानं, तिअर्थं पंचदीप्ति थान सुद्धं च ।
मिथ्या कुन्यान तिक्तं, न्यान सहावेन थान सुद्धं च ॥ ७४६ ॥

अर्थ– शुद्ध आत्मा का ध्यान ही स्व स्थान है, इसी शुद्ध स्थान अर्थात् निर्विकल्प ध्यान में तिअर्थ (रत्नत्रय) और पंच परमेष्ठी पदों का प्रकाश होता है, यहां मिथ्यात्व और कुज्ञान नहीं रहते । ज्ञान स्वभाव में लीन होने से परम शुद्ध स्थान जो मोक्ष है, वह प्राप्त हो जाता है ।

यहां 'थ' अक्षर का अभिप्राय बताया है कि आत्म ध्यान ही स्व स्थान

है। स्वस्थान में रहने से ही पंचपरमेष्ठी पद केवलज्ञान और शुद्ध सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

द

दर्सन सुद्धि निमित्तं, भावं सुद्धं च निम्मलं चित्तं।
न्यानेन न्यान रूवं, जिन उत्तं न्यान निम्मलं सुद्धं ॥ ७४७ ॥

अर्थ– भाव की शुद्धता और चित्त की निर्मलता सम्यक्दर्शन की शुद्धि में निमित्त है। सम्यक्दर्शन की शुद्धि पूर्वक जब साधक ज्ञान से ज्ञान स्वरूप को जानता है, अनुभव करता है, जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि तब ज्ञान भी निर्मल और शुद्ध हो जाता है।

यहां 'द' अक्षर का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्यक्दर्शन की शुद्धि करो अर्थात् समस्त चल विचलता छोड़कर 'मैं आत्मा ही हूं, शरीर नहीं ऐसी दृढ़ श्रद्धा जगाओ। भाव की शुद्धता और चित्त की निर्मलता सम्यक्दर्शन की शुद्धि में निमित्त है, सम्यक्दर्शन पूर्वक ज्ञान से अपने ज्ञान स्वरूप को जानना, अनुभव करना, जिनेन्द्र भगवान ने उसको ही शुद्ध ज्ञान कहा है इसके द्वारा ही पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान का प्रकाश होता है।

ध

धरयंति धम्म संजुत्तं, मन पसरन्त न्यान सह धरनं।
झायं सुद्ध सहावं, न्यान सहावेन निम्मलं चित्तं ॥ ७४८ ॥

अर्थ– जिसको धारण किया जाये वह धर्म है। वस्तु स्वभाव का श्रद्धान करना ही धर्म है। वह धर्म आत्मज्ञान है, पर पदार्थों में पसरने, फैलने वाले मन को इसी आत्मज्ञान से वश में किया जाता है इसलिए चित्त की निर्मलता पूर्वक ज्ञान स्वभाव के आश्रय से शुद्ध स्वभाव का ध्यान करो।

जो जीव को संसार के दु:खों से छुड़ाकर उत्तम सुख में स्थित कर दे वह धर्म है। जो उद्धार करे, पतन होने से बचाये, संसार सागर से पार करे, मोक्ष को प्राप्त कराये, वह धर्म है। यह धर्म आत्मज्ञान रूप है, मन की चंचल वृत्ति को आत्मज्ञान के द्वारा ही वश में किया जाता है।

यहां आचार्य 'ध' अक्षर के द्वारा धर्म को धारण करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि चित्त की निर्मलता पूर्वक अपने ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा का ध्यान धारण करो।

न

न्यान मयं अप्पानं, छिंदंति दुट्ठ कम्म मिच्छत्तं।
छिन्नं कषाय विषयं, अप्प सरूवं च निम्मलं भावं ॥ ७४९ ॥

अर्थ– ज्ञानमयी आत्मा का ध्यान करने से मिथ्यात्व और दुष्ट आठों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं। क्रोधादि कषाय तथा पांचों इंद्रियों के विषय भाव दूर हो जाते हैं और अपना आत्म स्वरूप निर्मल स्वभाव प्रगट हो जाता है।

आत्मा ज्ञानमयी है, जितना ज्ञान है उतना ही आत्मा है और जितना आत्मा है, उतना ही ज्ञान है इसलिए आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है, आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है, ऐसे ज्ञानमयी आत्मा का ध्यान करने से मिथ्यात्व, ज्ञानावरणादि आठ कर्म, विषय–कषाय आदि विकारों का अभाव होता है, जिससे आत्मा का निर्मल स्वभाव प्रगट हो जाता है, यही 'न'अक्षर का सार है।

प

परमप्पय चिंतवनं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं।
कुन्यान सल्य विरयं, तिक्तं संसार सरनि मोहंधं ॥ ७५० ॥

अर्थ– अपने परमात्म स्वरूप, परमात्म पद का चिंतन करो, मैं आत्मा स्वभाव से निर्मल परमात्मा हूं ऐसा अनुभवन करो, इससे कुज्ञान और तीनों शल्य छूट जाती हैं तथा संसार के परिभ्रमण में कारणभूत मोहरूपी अंधकार भी नष्ट हो जाता है।

यहां 'प' अक्षर का अभिप्राय बताते हुए कहा गया है कि परमात्मा के समान स्वभाव से मैं आत्मा निर्मल शुद्ध परमात्म स्वरूप हूं ऐसा चिंतवन करो, अनुभवन करो, यही समस्त विकारों से मुक्त होने का उपाय है।

फ

फटिक सरूवं अप्पा, चेयन गुन सुद्ध निम्मलं भावं।
कम्म मल पयडि विरयं, विरयं संसार सरनि मोहंधं ॥ ७५१ ॥

अर्थ– यह आत्मा, स्वरूप से स्फटिक मणि के समान शुद्ध चैतन्य गुण का धारी निर्मल,वीतराग भाव रूप है, यह समस्त कर्ममलों की प्रकृतियों से विभाव परिणति से रहित है तथा संसार में भ्रमण कराने वाले मोहांधकार से भी विरत है।

आत्मा का स्वभाव स्फटिक मणि के समान निर्मल और शुद्ध है।

जैसे–स्फटिक मणि लाल,पीले, हरे, आदि रंग की उपाधि से उसी रूप दिखाई देने लगता है परंतु स्वभाव से उन रंगों जैसा नहीं होता, वैसे ही आत्मा स्वभाव से स्फटिक मणि के समान शुद्ध है, कर्म के उदय की डाक लगने से विभाव रूप परिणमन देखा जाता है फिर भी स्वभाव से शुद्ध ही रहता है ऐसा शुद्ध स्वभाव ही इष्ट,आराध्य, प्रयोजनीय है, यही 'फ' अक्षर का सार है।

ब

वर सुद्ध झान निस्चं, बंभं चरनं अबंभ तिक्तं च।
तिक्तं असुद्ध भावं, सुद्ध सहावं च भावना सुद्धं ॥ ७५२ ॥

अर्थ– निश्चय शुद्ध आत्म स्वरूप के ध्यान का जिसने वरण कर लिया अर्थात् आत्म ध्यान को स्वीकार कर लिया, वह ब्रह्म स्वरूप में आचरण करता है, उसका अब्रह्म भाव छूट जाता है, शुद्ध स्वभाव की शुद्ध भावना भाने से अशुद्ध भावों का भी त्याग हो जाता है अर्थात् छूट जाता है।

वरण कर लिया है जिसने शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान को, वह जीव मोक्षमार्गी हो जाता है।

'ब' अक्षर के द्वारा प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री तारण स्वामी कहते हैं कि शुद्ध स्वभाव की निरंतर भावना भाओ, अशुद्ध भाव को छोड़कर अपने ब्रह्म स्वरूप में आचरण करो, यही 'ब' अक्षर का अभिप्राय है।

भ

भद्रं मनोन्य सुद्धं, भद्रं जाती च निम्मलं सुद्धं।
संसार विगत रूवं, अप्प सहावं च निम्मलं झानं ॥ ७५३ ॥

अर्थ– आत्मा भद्र अर्थात् मंगल रूप, मनोज्ञ अर्थात् सुंदर और शुद्ध है। निश्चय से स्वभाव से निर्मल और सिद्ध परमात्मा के समान भद्र जाति वाला है, संसार के भ्रमण स्वभाव से रहित है, ऐसे निर्मल आत्म स्वभाव का ध्यान करो।

'भ' अक्षर के द्वारा यहां अपने आत्म स्वरूप को भद्र जाति वाला कहा है। जैसे–सिद्ध परमात्मा परम शुद्ध, श्रेष्ठ, उत्कृष्ट हैं, संसार में आवागमन से रहित हैं, उनके समान ही निज शुद्धात्मा संसार के परिभ्रमण से रहित है, ऐसे निर्मल आत्म स्वभाव का ध्यान ही कल्याणकारी है।

म

मम आत्मा सुद्धानं, सुद्धप्पा न्यान दंसन समग्गं।
रागादि दोस रहियं, न्यान सहावेन सुद्ध सभावं ॥ ७५४ ॥

अर्थ– मेरा आत्मा निश्चय से शुद्ध है यही शुद्धात्मा ज्ञान दर्शन गुणों से समग्र अर्थात् परिपूर्ण है, राग द्वेष आदि विकारों से रहित है। ज्ञान स्वभावमय होने से यही अपना शुद्ध स्वभाव है।

यहां 'म' अक्षर का अभिप्राय है कि मेरा आत्मा शुद्धात्मा ज्ञान, दर्शन से परिपूर्ण है, रागादि विकारी भावों से रहित परम शुद्ध है। यही शरणभूत इष्ट उपादेय है।

य

जयकारं जयवंतं, जयवंतो सुद्ध निम्मलं भावं।
मिच्छत्त राग मुक्तं, न्यान सहावेन निम्मलं चित्तं ॥ ७५५ ॥

अर्थ– जय हो, जय हो शुद्ध निर्मल स्वभाव की जय हो। यह अपूर्व महिमामय शुद्धात्म स्वभाव मिथ्यात्व से व राग से मुक्त है। इसी ज्ञान स्वभाव में रहने से चित्त निर्मल होता है अर्थात् पर्याय में शुद्धता आती है।

यहां 'य' के रूप में 'ज' अक्षर के माध्यम से सद्गुरु ने अपने निर्मल स्वभाव और महिमा का अंतर में अनुभव किया है। उनके अंतर में ऐसी निर्मल परिणति का उदय हुआ है कि शुद्ध स्वभाव की अंतर में जय जयकार हो रही है। जो स्वभाव मिथ्यात्व और रागादि से मुक्त है इसी शुद्ध द्रव्य स्वभाव के आश्रय से पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है।

र

रयनत्तय संजुत्तं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं।
मय मान मिच्छ विरयं, संसारे तरन्ति निम्मलं भावं ॥ ७५६ ॥

अर्थ– जो भव्य जीव ज्ञानी साधक रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से संयुक्त हैं तथा अपनी आत्मा निर्मल शुद्ध परमात्म स्वरूप है ऐसा अनुभव करते हैं। वे मान, माया, मिथ्यात्व आदि दोषों से छूटकर निर्मल भाव के द्वारा संसार से पार उतर जाते हैं।

यहां 'र'अक्षर के द्वारा कहा गया है कि रत्नत्रय ही प्रयोजनीय है। जो साधक ज्ञानी आत्मार्थी भव्य जीव व्यवहार रत्नत्रय के आलंबन पूर्वक निश्चय

रत्नत्रय में स्थिर होकर अपने आत्मा का परमात्म स्वरूप ध्यान करते हैं, वे समस्त विकारों से रहित होकर शुद्धोपयोग के बल से संसार से पार होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

ल

लंक्रित न्यान सहावं, कुन्यानं तिजंति सयल मिच्छातं।
परमानंद सरूवं, न्यान मयं परम भाव सुद्धीए ॥ ७५७ ॥

अर्थ– तत्त्वज्ञानी महात्मा ज्ञान स्वभाव से अलंकृत अर्थात् विभूषित होकर समस्त मिथ्या श्रद्धान और कुज्ञान को त्याग देते हैं तथा परमानंद स्वरूप ज्ञानमय परमभाव की शुद्धि को प्राप्त होते हैं।

मोक्षमार्गी, आत्मार्थी ज्ञानी ज्ञान स्वभाव से अलंकृत होते हैं, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को त्यागकर आत्मा के स्वभाव में ही रमण करते हैं। इसी से वे परमानंदमयी ज्ञान स्वरूपी उत्तम भाव की सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। यही 'ल' अक्षर का अभिप्राय है।

व

वारापार महोधं, तरंति जे न्यान झान संजुत्तं।
भावंति सुद्ध भावं, न्यान सहावेन संजमं सुद्धं ॥ ७५८ ॥

अर्थ– जो आत्मार्थी सत्पुरुष ज्ञान स्वभाव के आश्रय पूर्वक शुद्ध संयम का पालन करते हैं, शुद्ध स्वभाव की भावना भाते हैं और अपने ज्ञान स्वभाव के ध्यान में लीन हो जाते हैं, वे पुरुषार्थी नर अपार संसार रूपी महासमुद्र से तर जाते हैं। यह संसार एक महासमुद्र है, जिसमें मोह, राग– द्वेष की तरंगें उठा करती हैं। जो तत्त्व ज्ञानी अपने स्वभाव के अनुभव पूर्वक शुद्ध संयम का पालन करते हुए शुद्धोपयोग में स्थित हो जाते हैं, वे सत्पुरुष पुरुषार्थी जीव निज स्वभाव की नौका में बैठकर घोर संसार सागर से तिर जाते हैं।

'व' अक्षर का सार बताते हुए यहां शुद्धात्मानुभूति पूर्वक संयम और ज्ञान ध्यान में रत होकर आत्म कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करने की प्रेरणा दी गई है।

स

सहकारे जिन उत्तं, सुतं संसार तारने निस्चं।
संसार सरनि विरयं, न्यान सहावेन भावना सुद्धं ॥ ७५९ ॥

अर्थ– जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित श्रुतज्ञान संसार से पार होने में सदा ही सहकारी है, निश्चय श्रुतज्ञान सहित ज्ञान स्वभाव की शुद्ध भावना भाने से संसार का जन्म–मरण परिभ्रमण छूट जाता है।

यहां 'स' अक्षर का सार बताते हुए यह कहा है कि भाव श्रुतज्ञान आत्मानुभव रूप है, यही वस्तुत: सिद्धि मुक्ति का साधक है, जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान के वचनों को स्वीकार कर भाव श्रुतज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, वे ज्ञान स्वभाव की शुद्ध भावना भाते हुए निज स्वभाव में लीन होकर संसार के परिभ्रमण से छूट जाते हैं।

श

षिपनिक भाव निमित्तं, षिपियो संसार सरनि मोहंधं।
षिउ उवसम संजुत्तं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ॥ ७६० ॥

अर्थ– क्षायिक भाव रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो संसार में परिभ्रमण कराने वाले दर्शन मोहांध को क्षय कर देते हैं तथा चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करके उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी पर आरोहण करते हैं वे अपने आत्मा को परमात्म रूप निर्मल शुद्ध अनुभव करते हैं।

यहां 'ष' के स्थान पर 'श' अक्षर के माध्यम से यह बताया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो भव्य जीव दर्शन मोहनीय को क्षय करते हैं तथा चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम करके उपशम श्रेणी अथवा क्षय करके क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं वे वीतरागी साधु शुद्धोपयोग पूर्वक अपने आत्मा को परमात्म रूप अनुभव करते हैं।

ष

सहकार धम्म धरनं, सहजोपनीत सहज नंद आनंदं।
संसार विक्त रुवं, अप्पा परमप्प सुद्धमप्पानं ॥ ७६१ ॥

अर्थ– मुक्ति को प्राप्त कराने वाला धर्म है, इसी को धारण करो, इसी का सहकार करो, धर्म के आश्रय से ही स्वाभाविक नंद आनंद परम समरसी भाव सहित सहज ही उत्पन्न होता है, इसका रसास्वादन रूप अनुभव संसार के रूप से विलक्षण है, इसी स्वानुभव में आत्मा अपने को शुद्धात्मा, परमात्मा रूप अनुभव करता है।

यहां 'ष' के स्थान पर 'स' का विचार करते हुए कहा है कि आत्मा का चैतन्य लक्षण स्वभाव ही धर्म है, इसको धारण करने अनुभव करने से परम वीतराग स्वरूप है लक्षण जिसका जो संसार के क्षणिक सुख से विलक्षण रूप है

ऐसा सहजोपनीत नंद आनंद अंतर में प्रगटता है और संसार की चार गति, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कराने वाले रागादि विकारी भावों का अभाव होने से आत्मा अपने शुद्धात्मा को परमात्म स्वरूप संवेदता है।

ह

ह्रींकारं अरहंतं,तेरह गुनठान संजदो सुद्धं।
चौतीस अतिसय जुत्तो, केवल भावे मुनेअव्वो ॥ ७६२ ॥

अर्थ– ह्रीं अरिहंत परमात्मा का वाचक मंत्र है। अरिहंत भगवान सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती स्नातक संयमी, वीतरागी हैं, चौंतीस अतिशय से अलंकृत हैं, उन्हें केवलज्ञान के धारी परमात्मा जानो।

'ह' अक्षर का सार बताते हुए यहाँ कहा गया है कि ह्रीं मंत्र अरिहंत परमात्मा का द्योतक है। ह्रीं मंत्र के द्वारा अरिहंत के स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। ह्रीं मंत्र को नासिका के अग्र भाग पर भ्रूमध्य पर अथवा अन्य किसी उच्च स्थान पर विराजमान करके अरिहंत परमात्मा के स्वरूप का ध्यान आत्म हितकारी है। अरिहंत परमात्मा तेरहवें गुणस्थानवर्ती परम संयत, चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य और चार अनंत चतुष्टय सहित विराजमान हैं, उन्हें केवलज्ञानी परमात्मा जानो।

वर्णमाला–सार

षिपतं कम्म सुभावं, षिपियं संसार सरनि सुभावं।
अप्पा परमानंदं, परमप्पा मुक्ति संजुत्तं ॥ ७६३ ॥

अर्थ– जिन्होंने कर्मों की समस्त प्रकृतियों को क्षय कर दिया है। संसार में जन्म–मरण,परिभ्रमण कराने में कारणभूत विभाव भावों को नष्ट कर दिया है, वह आत्मा परमानंदमयी सिद्धि मुक्ति में विराजमान सिद्ध परमात्मा हैं।

यहाँ सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को बताने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार उन्होंने अविनाशी पद को प्राप्त कर लिया है उसी प्रकार अक्षरों के माध्यम से हम भी अपने अक्षर स्वरूप अर्थात् अक्षय जिसका कभी क्षय नहीं होता, क्षरण नहीं होता ऐसे निज पद को प्राप्त करें।

अष्यर सुर विंजन रुवं, पद विंदं सुद्ध केवलं न्यानं।
न्यानं न्यान सरुवं, अप्पानं लहंति निव्वानं ॥ ७६४ ॥

अर्थ– पाँच अक्षर, चौदह स्वर तथा तैंतीस व्यंजनों के द्वारा शुद्ध केवल

ज्ञानमयी अरिहंत और सिद्ध पद का अनुभवन करो। जो भव्य जीव अक्षर, स्वर व्यंजन रूप द्रव्यश्रुत के द्वारा भावश्रुत को प्राप्त कर अपने ज्ञानमयी आत्म स्वरूप को ज्ञानमय ही अनुभवते हैं वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार बावन अक्षरों की आध्यात्मिक जाप का अभिप्राय यह है कि अरिहंत, सिद्ध परमात्मा के समान अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभवन करें। जो जीव परमात्मा के शुद्ध गुणों का चिंतवन करते हुए अपनी आत्मा को निश्चय से परमात्म स्वरूप जानता है, अपने आत्म स्वरूप के ध्यान में लीन हो जाता है, वह समस्त कर्मों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद और अर्थ इनका व्यवहारिक स्वरूप तो बताया ही है, आध्यात्मिक स्वरूप भी स्पष्ट किया है, जो अपने आपमें अध्यात्म साधना की ओर संकेत करता है।

अक्षर– ''न क्षरति इति अक्षर:'' जिसका कभी क्षरण नहीं होता, नाश नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं। वर्णमाला में जो अक्षर हैं, उनका कभी क्षरण नहीं होता इसलिये उन्हें अक्षर कहा जाता है। निश्चय से आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, नाश भी नहीं होता इसलिये अपना अक्षय स्वभाव ही अक्षर है।

स्वर– वर्णमाला में 'अ' से 'अ:' तक के वर्ण स्वर कहलाते हैं। कोई भी व्यंजन, बिना स्वर की सहायता के उच्चारण नहीं किया जा सकता। निश्चय से स्वर का अभिप्राय बताते हुए आचार्य श्री जिन तारण स्वामी ने कहा है कि सूर्य के समान प्रकाशित आत्मा का केवलज्ञान स्वभाव स्वर है।

व्यंजन– 'क' से 'ह' तक के वर्ण व्यंजन कहलाते हैं। व्यंजन का निश्चयनय से स्वरूप इस प्रकार है–''आत्मा का अनादिनिधन त्रैकालिक,एक रूप प्रत्यक्ष अनुभव गम्य स्वभाव ही व्यंजन है।

पद– अक्षरों से मिलकर शब्द बनते हैं, शब्दों के सार्थक समुदाय को पद कहते हैं। निश्चय से अपने आत्मा का रागादि विकारी भावों से रहित शुद्ध स्वभाव ही परमार्थ पद है। सिद्ध पद ही अपना वास्तविक पद है।

अर्थ– पदों से मिलकर बने हुए वाक्य का कोई न कोई अर्थ अवश्य होता है, इसी प्रकार निश्चय से अपनी आत्मा का जो ज्ञान स्वभावमयी शुद्ध सिद्ध पद है, इसका अनुभव करना ही सिद्ध पद का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है। सिद्ध पद का अनुभव करना ही सारभूत प्रयोजनीय है।

❖❖❖

ॐकार की महिमा और बारहखड़ी

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि संसार में प्रचलित सभी धर्म, मत और ग्रंथों में 'ॐ' मंत्र को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। जैन ग्रंथों में ॐकार की महिमा सर्वत्र स्वीकार की गई है। योगानुशीलन नामक ग्रंथ में यह उल्लेख मिलता है कि इंद्र, वरुण आदि वैदिक देवों और ऋषियों को 'ॐ' के द्वारा ही अध्यात्म विद्या का लाभ हुआ। अनेक स्थल ऐसे हैं, जहां बारहखड़ी का प्रारंभ 'ॐ' से किया गया है। 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र में सबसे पहले 'ॐ' है।

दिगम्बर जैन मंदिर वैदवाड़ा, दिल्ली में ३०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलिखित प्रति का प्रारंभ 'ॐ' से हुआ है।

ॐकार उच्चार करि ध्यावत मुनिगण सोई।
तामें गर्भित पंच गुरु नित पद वंदों सोई॥

अर्थ– ॐकार का उच्चारण कर मुनिगण उसी का ध्यान करते हैं, इस ॐकार में पंचगुरु अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु गर्भित हैं अर्थात् ॐकार के उच्चारण से उनके पदों का बोध होता है, मैं उनके गुणों की वंदना करता हूं।

ॐकारं विन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिन:।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नम:॥

अर्थ– विन्दु संयुक्त ॐकार का योगीजन नित्य ध्यान करते हैं, काम अर्थात् मनोवांछित फल और मोक्षदायक ॐकार को बारंबार नमस्कार हो। यहां नित्य शब्द से ॐकार की नित्यता का बोध होता है।

ॐकार के प्रति नमन करने का भाव इस श्लोक के द्वारा प्राय: सभी धर्मों के लोग स्वीकार करते हैं, जैन धर्मावलंबियों को तो यह मंत्र कंठ में स्थित रहता है। प्रत्येक मंगलकारी कार्य प्रारंभ करने से पूर्व और शास्त्र सभा के प्रारंभ में इसको पढ़ा जाता है। तारण तरण जैन समाज की भाव पूजा (मंदिर विधि) के अंतर्गत ॐकार मंत्र का वाचन करते हुए भी यह श्लोक भक्ति भाव से पढ़ा जाता है।

'ॐ' मंत्र के आराधन की प्रेरणा देते हुए तथा उसकी विशेषता बताते हुए श्री नवलशाह ने वर्द्धमान पुराण में लिखा है–

प्रणमि मंत्र सुमरों फिर चित्त, ॐकार जो परम पवित्र।
दु:ख दावानल जो मेह, ज्ञानदीप पहुंचन को गेह॥
परमेष्ठी सम इह को जान, बीचक बीच तने उनमान।
हृदय सुकंज करणीक रहै, स्वर व्यंजन वेष्टित लहलहै॥

अर्थ– मंत्र को प्रणाम कर चित्त में परम पवित्र 'ॐ' का स्मरण करो। यह

मंत्र दु:ख रूपी दावानल के लिये मेह के समान है, ज्ञानरूपी दीपक को जलाने के लिए घर के समान है, पंच परमेष्ठी के समान इसको समझो, इसका हृदय रूपी कमल पर ध्यान करो जिसकी पत्तियां स्वर और व्यंजन से लहलहा रही हैं।

जसराज बावनी की रचना संवत् १७३८ में पंडित जीवविनय के शिष्य जसविजय द्वारा लिखी गई ,इसके प्रारंभ में ही ॐकार का महत्व बताया गया है –

ॐकार अपार जान आधार, सवै नर नारी संसार जपै है।
बावन अक्षर माही धुरक्षर, ज्योति प्रद्योतन कोटि तपै है॥
सिद्ध निरंजन भेख अलेख, सरूप न रूप जोगेन्द्र थपै है।
ऐसो महातम है ॐकार को, पाप जसा जाके नाम खपै है॥

पंडित दयाराम जी द्वारा लिखित छहढाला नामक ग्रंथ मिलता है, इस ग्रंथ के प्रारंभ में लेखक ने लिखा है कि ॐकार का प्रारंभ में उच्चारण करने से अक्षर सुलभ हो जाता है क्योंकि ॐकार में पंच परम पद अर्थात् पंच परमेष्ठी का वास है, मैं उनकी मन, वचन, काय से वंदना करता हूं। लेखक अपनी अंतर भावना व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि मुझे अक्षर ज्ञान नहीं है, छंद भेद समझता नहीं हूं, किसी प्रकार अक्षर बावनी रचना रच रहा हूं।

ॐकार मंझार, पंच परम पद बसत हैं।
तीन भुवन में सार,बंदों मन वच कायतैं॥
अक्षर ज्ञान न मोहि, छंद भेद समझो नहीं।
पै थोड़ी किम होय, अक्षर भाषा बावनी॥

ॐकार की महिमा अपूर्व है, इसमें कोई संदेह नहीं है। ॐकार की महिमा को सभी ने यथाविधि स्वीकार किया है। तारण तरण जैन समाज में सच्चे देव, गुरु, धर्म का आराधन मंदिर विधि द्वारा किया जाता है। मंदिर विधि को भावपूजा कहते हैं।

इस भावपूजा के प्रारंभ में तत्त्व मंगल के पश्चात् पढ़े जाने वाले ॐकार मंगल में सर्वप्रथम ॐकार की वंदना की गई है। वहां यह कहा गया है कि ॐकार ही सबका मूल है।

ॐकार से सब भये, डार पत्र फल फूल।
प्रथम ताहि को वंदिये, यही सबन को मूल॥

ॐकार की और भी महिमा और विशेषता बताते हुए इसी भावपूजा में आगे कहा गया है कि ॐकार सब अक्षरों का सार है। यही पंच परमेष्ठी स्वरूप है तथा तीर्थ रूप महा महिमामय है।

ॐकार का तीन लोक के जीव ध्यान करते हैं। तीर्थंकर परमात्मा की दिव्य

ध्वनि निरक्षरी ॐकारमयी खिरती है जो अगम अपार होती है। यह संपूर्ण जिनवाणी द्रव्य श्रुत रूप में बावन अक्षरोंमयी होती है । चारों वेद अर्थात् चार अनुयोग प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग यह सब दिव्य ध्वनि से प्रगट होते हैं।

ॐकारमयी दिव्यध्वनि से नि:सृत जिनवाणी की महिमा जगत प्रसिद्ध है। ॐकार का घट-घट में वास है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी ॐकार के ध्यान में रत रहते हैं, ऐसे ॐकार को सदैव नमस्कार करो और निर्मल होकर परम उत्कृष्ट आत्मानुभूति के अतीन्द्रिय अमृत रस का पान करो, छंद इस प्रकार है-

ॐकार सब अक्षर सारा, पंच परमेष्ठी तीर्थ अपारा।
ॐकार ध्यावै त्रैलोका, ब्रह्मा विष्णु महेसुर लोका॥

ॐकार ध्वनि अगम अपारा, बावन अक्षर गर्भित सारा।
चारों वेद शक्ति है जाकी, ताकी महिमा जगत प्रकाशी॥

ॐकार घट घट परवेशा, ध्यावत ब्रह्मा विष्णु महेशा।
नमस्कार ताको नित कीजे, निर्मल होय परम रस पीजे॥

ॐकार व्यवहार से पंच परमेष्ठी का और निश्चय से निज शुद्धात्मा का वाचक मंत्र है। प्राचीनकाल में प्रचलित शिक्षा पद्धति ॐकार से महिमा मण्डित रही है।

यही कारण है कि पुराने विद्वान कवियों ने वर्णमाला का आध्यात्मिक स्वरूप तो स्पष्ट किया ही है परंतु उसके प्रारंभ में ॐकार अथवा ॐकार में गर्भित पंचपरमेष्ठी का आराधन अवश्य किया है।

जिस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में हुए आचार्य श्री मद् जिन तारण स्वामी ने 'ॐ नम: सिद्धम्' मंत्र की अनुभवपरक सिद्धि करते हुए अक्षरावली का आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट किया है।

इसी परंपरा का निर्वाह बाद में हुए कवियों के द्वारा किया गया है, यह अतीत के इतिहास से प्रमाणित होता है।

इस संदर्भ में भैया भगौतीदास कृत बारहखड़ी, पं. दौलतराम जी कासलीवाल कृत अध्यात्म बारहखड़ी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो यहां क्रमश: अक्षरश: प्रस्तुत हैं-

१. अक्षर बत्तीसिका- रचयिता- भैया भगौतीदास जी

दोहा

ऊँकार अपार गुण, पार न पावे कोई।
सो सब अक्षर आदि ध्रुवन में, ताहि सिद्धि होई॥

चौपाई

ककका कहें करण वश कीजै, कनक कामिनी दिष्टि न दीजे।
करिके ध्यान निरंजन गहिये,केवल पद इहि विधि सों लहिये॥

खखा कहें खबर सुन जीव, खबरदार हो रहै सदीव।
खोटे फंद रचे अरिजाल, बिन इकु जिन भूलहु वहि ख्याल॥

गगा कहे ज्ञान अरु ध्यान, गहिकें थिर हुँजे भगवान।
गुण अनंत प्रगटति तत्काल, गरकें जाहि मिथ्यामति जाल॥

घघा कहें सुघर पहिचान, घने घोस भष्ट फिरत अपान।
घर अपने आवो गुणवंत, घणें करम ज्यों व्हे हैं अन्त॥

ननना कहें नैननि सों लखिये, नै निहचै व्योहार परषिये।
निज के गुण निज मंहि गहि लीजे,निरविकल्प आतम रस पीजे॥

चचा कहें चरचि गुण गहिये,चिन्मूरति शिव सम उर लहिये।
चंचल मन कीजे थिर आन,चेतन सीख सुगुरु की मान॥

छछा कहे छांड़ि जग जाल, छाहों काय जीव प्रतिपाल।
छांड़ि अज्ञान भाव को संग, छकि अपने गुण लखि सर्वंग॥

जजा कहे मिथ्यामति जीति, जैन धर्म की गहु परतीति।
जिन सों जीव जगे निज काज, जगति उलंघि होई शिवराज॥

झझा कहे झूठ पर वीर, झूठे चेतन साहस धीर।
झूठो है यह कर्म शरीर, झूलि रहे मृग तृष्ना नीर॥

ञञा कहें निरंजन नैन, निश्चै शुद्ध विराजे ऐंन।
निज तजिके पर में नहिं जाइ, निरावरण वेदहु जिनराई॥

टटा कहे निजातम गहिये, टिक के थिर अनुभौ पद लहिये।
टिकन न दीजे अरि के भाव, टुक-टुक सुख को यहै उपाव॥

ठठा कहें आठ ठग पाए, ठगत ठगत अब के कर आए।
ठग को त्याग जलांजुलि दीजे, ठाकुर ह्वै के तब सुख लीजे॥

डडा कहें डंक विष जैसो, डसें मोह भुजंग है तैंसो।
डार्‌यो विष गुरु मंत्रेना यो, डर सब त्याग मनहि समझायो॥

ढढा कहे ढील नहिं कीजे, ढूंढि ढूंढि चेतन गुण लीजे।
ढिंग तेरे है ज्ञान अनंत, ढके मिथ्यात ताहि कर श्रंत॥

दोहा

नेना अक्षर जे लखें, तई अक्षर नैंन।
जे अक्षर देखे नहीं, तेई नेन अनेन॥

चौपाई

तता कहे तत्त्व निज काज, ताके कहे होई शिवराज।
ताको अनुभो कीजे हंस, ता वेदत ह्वै तिमिर विध्वंस॥

थथा कहे इंद्रिनि को भूप, थंभन मन कीजे चिद्रूप।
थकहैं सकल करम के संग, थिरता सुख तहां होइ अभंग॥

ददा कहें परम गुणवान, दीनें थिरता लहो निधान।
दया वहे सु दया जहि होइ, दया शिरोमणि कहिये सोई॥

धधा कहे धरम को ध्यान, धर चेतन अपनों गुण ज्ञान।
धवल परम पद प्राप्ति होई, ध्रुव ज्यौं अटल टले नहीं सोई॥

नाना नव तत्त्वनि सों भिन्न, नित प्रति रहें ज्ञान के चिन्ह।
निशदिन ताके गुण अवधारि, निर्मल होइ कर्म अघ टारि॥

पपा कहे परम पद इष्ट, परख गहो चेतन निज दिष्ट।
प्रतिभासे सब लोकालोक, पूरन होइ सकल सुख थोक॥

फफा कहे जु फिरो कित हंस, फिरि फिरि मिले न नरभौ वंस।
फंद सकल अरि चकचूर, फेरि सकति निज आनंद पूर॥

बबा कहें ब्रह्म सुनि वीर, वर विचित्र तुम परम गंभीर।
बोध बीज लहिए अभिराम,विधि सों कीजे आतम काम॥

भभा कहे भरम के संग, भूलि रहे चेतन सरवंग।
भाव अज्ञान वहें करि दूर, भेदज्ञान ते पर दल चूर॥

ममा कहे मोह की चालि, मेटि सकल यह पर जंजाल।
मानहु सदा जिनेसुर बैन, मीठे मनहु सुधा ते अेंन॥

जजा कहे जैन धर्म गहो, यो चेतन पंचमगति लहो।
जानहु सकल आप पर भेद, जिहि जाने है कर्म निवेद॥

ररा कहें राम सुनि बैन, रमि अपने गुण तजि पर सैन।
रिद्धि सिद्धि प्रगटहि तत्काल, रतन तीनि लखि लेहु निहाल॥

लला कहें लखहु निज रूप, लोक अग्र सम ब्रह्म सरूप।
लीन होहु वह परम अवधार, लोभ करन परतीति निवार॥

सोरठा

ववा बोलें वैन, सुनो सुनो रे निपुन नर।
कहा करत हो सैन, ऐंसो नरभौ पाइकै॥

दोहा

शशा शिक्षा देत है, सुनि हो चेतन राम।
सकल परिग्रह त्याग के, सारो आतम काम॥

षषा षोटी देह यह, षिनक मांहि षिर जाइ।
षरी सु आतम संपदा, षिरें न थिर दरसाइ॥

ससा सजि अपने दलहि, सिव पथ करहु विचार।
होहि सकल सुष सासुते, सत्यमेव निरधार॥

हहा कहे हित साष यह, हंस बन्यो है दाव।
हरि ले षिन में कर्म को, होइ बैठि सिवराव॥

क्षक्षा क्षायक पंथ चढ़ि, क्षय कीजे सब कर्म।
क्षण इक में वसिये तहां, क्षेत्र सिद्ध सुष धर्म॥

यह अक्षर बत्तीसिका, रची भगौती दास।
बाल प्याल कीनों कछु, लहि आतम परकास॥

॥ इति अक्षर बत्तीसिका ॥

२. उपदेशी बारहखड़ी — रचयिता– कविवर सूरत जी

यह बारहखड़ी विक्रम संवत् १९३० में कविवर सूरत जी द्वारा लिखी गई है। राहतगढ़ जिला सागर (म. प्र.) से प्राप्त हस्तलिखित प्रति के अनुसार उपदेशी बारहखड़ी इस प्रकार है–

दोहा

प्रथम नमूं अरहंत को, नमूं सिद्ध आचार ।
उपाध्याय सब साधु को, नमूं पंच परकार ॥ १ ॥

भजन करुं श्री आदि को, अंत नाम महावीर ।
तीर्थंकर चौबीस को, नमूं ध्यान धर धीर ॥ २ ॥

जिन धुनि तैं वानी खिरी, प्रगट भइ संसार ।
नमस्कार ताकूं करुं, इकचित इकमन धार ॥ ३ ॥

ता वानी के सुनत ही, बढ़ै परम आनंद ।
भई सुरति कछु कहन की, बारहखड़ी के छंद ॥ ४ ॥

बारहखड़ी के छंद बनाऊं, यह मेरे मन भाई ।
जैन पुराण बखानी वानी, सो मैंने सुन पाई ॥
गुरुप्रसाद भविजन की संगति, सो उपजी चतुराई ।
सूरत कहै बुद्धि है थोरी, श्री जिननाम सहाई ॥ ५ ॥

कका करत सदा फिर्यो, जामन मरन अनेक ।
लख चौरासी योनि में, काज न सुधर्यो एक ॥ ६ ॥

काज न सुधर्यो एक दिवाने, तैं शुभ अशुभ कमाया ।
तेरी भूल तोहि दुखदाई, बहुतेरा समझाया ॥
भटकत फिर्यो चहूंगति भीतर,काल अनादि गमाया ।
सूरत सत्गुरु सीख न मानी, यातैं जग भरमाया ॥ ७ ॥

खखा खूबी मत लखो, संसारी सुख जान ।
यह सुख दु:ख को मूल है, सत्गुरु कही बखान ॥ ८ ॥

सत्गुरु कही बखान जान यह, तू मत होय अजाना ।
विनाशीक सुख इन इंद्रिन का, तैं मीठा करि जाना ॥
यह सुख जानि खानि है दु:ख की,तू क्या भरम भुलाना ।
सूरत पछितावैगा जब ही, होहि नरक में थाना ॥ ९ ॥

गगा गुरु निरग्रंथ की, सतबानी मुख भाख ।
और विकार सबहिं तजो,यह थिरता मन राख ॥ १० ॥

यह थिरता मन राख, चाख रस जो अपना सुख चाहै ।
और सकल जंजाल दूर करि, ये बातैं अवगाहै ॥
पांच इंद्री वश राख आपनी, कर्म मूल को दाहै ।
सूरत चेत अचेत होय मति, अवसर बीतो जाहै ॥ ११ ॥

घघा घाट सुघाट में, नाव लगी है आय ।
जो अबके चेतै नहीं, तो गहिरे गोता खाय ॥ १२ ॥

गहिरे गोता खाय जाहिं तब, कौन निकासन हारा ।
समय पाय मानुषगति पाई, अजहूं नाहिं संभारा ॥
बारबार समझाऊं चेतन, मानो कहा हमारा ।
सूरत कही पुकार गुरु ने, यों होवे निस्तारा ॥ १३ ॥

ननना नाते जगत में, निज स्वारथ सब कोई ।
आन गांठि जिस दिन पड़ै, कोई न साथी होई ॥ १४ ॥

कोई न साथी होई न साथी, जिस दिन काल सतावै ।
सब परिवार आपने सुख का, तेरे काम न आवै ॥
आठों मद में छाकि रह्यो है, मैं मैं कर विललावै ।
सूरत समझ होय मतवारा, फिर यह दांव न पावै ॥ १५ ॥

चचा चंचल चपल मन, तिस मन को वसिआन ।
जब लग मन बस में नहीं, काज न होय निदान ॥ १६ ॥

काज न होय निदान, जान यह वश नाहीं मन तेरा ।
पांचों इन्द्री छठा चोर मन, तूं इनका भया चेरा ॥
राग द्वेष अरु मोह समीपी, इनहुं आनि मिलि घेरा ।
सूरत जिस दिन मन थिर होई, तिस दिन होय सबेरा ॥ १७ ॥

छछा छह रस स्वाद में,रह्यो छहों सत मान ।
छाकि रह्यो छांड़त नहीं, समझत नाहिं अजान ॥ १८ ॥

समझत नाहिं अजान जान, यह इन्द्रिय स्वाद में राच्यौ ।
आरत चिंता लाग रही है, ज्ञान ध्यान में काचौ ॥
जैसे कर्म नचावै याकूं, तैसी ही विधि नाचौ ।
सूरत रह्यो चहूंगति भटकत,सुगुरु मिलो नहीं सांचो ॥ १९ ॥

जजा जाग सुजाग नर, यह जागन की बार ।
जो अब कै जागै नहीं, फेर न होई संभार ॥ २० ॥

फेर न होई संभार सार यह, जो अब कै नहिं जागै ।
जो जागे निर्भय पद पावै, जरा मरन भय भागै ॥
नातर फेर भ्रमे भव सागर, हाथ कछु नहिं लागै ।
सूरत भला होय जब तेरा, संसारी सुख त्यागै ॥ २१ ॥

झझा झड़प छांड़ि के, कहूं तोहि समुझाय ।
जामैं तैं वासो कियो, सो तेरी नहिं काय ॥ २२ ॥

सो तेरी नहिं काय जाय संग, तुझे अकेला जाना ।
तैंने घर बहुतेरे कीने, आवत जात भुलाना ॥
थावर पंच त्रस पक्षी मानुष, भयो देव कहुं दाना ।
सूरत बहुत काल तैं भटका, आपा नहीं पिछाना ॥ २३ ॥

ञञा नरपद है भलो, ऐसो और न काय ।
जेई संभाले ते तिरें, भवजल पार जु पाय ॥ २४ ॥

भवजल भविजन तिरें विचारैं, जे इस भले संवारे ।
तीन काल तिन सही परीक्षा , कर्म चूर करि डारे ॥
आवत जात जगत से छूटे, लोकालोक निहारे ।
सूरत जो ऐसो सुख चाहौ, चेतो वेग संभारै ॥ २५ ॥

टटा टाला जिन किया, ते बूडे संसार ।
फिरहिं भटकते जगत में, तिनका वार न पार ॥ २६ ॥

तिनका वार न पार कहां है, फिरते फिरहिं विचारे ।
नर तिरजंचहु नरक देवगति, चारों धाम निहारे ॥
जामन मरन किये बहुतेरे, सहे महा दु:ख भारे ।
सूरत केतिक आयु कमायो, किस पे जाए निहारे ॥ २७ ॥

ठठा ठटकि रह्यो कहा, वेगह क्यों न संभाल ।
छांड़ि ठाठ संसार के , तब छूटें जंजाल ॥ २८ ॥

तब छूटे जंजाल बावरे, बहुरि नहीं दु:ख पावै ।
सत्गुरु कही मान ले शिक्षा, फेर न जग में आवे ॥
छांड़हु संग कुमति खोटी की,यह तुमको बहकावै ।
सूरत संग सुमति की लीजे, शिवपुर जाय दिखावै ॥ २९ ॥

डडा डिग मति जाय तू , अडिग होय पद साधि ।
दृढ़ता करि परिणाम की, जो सुख लहै समाधि ॥ ३० ॥

जो सुख लहै समाधि व्याधि तज, आपा खोजो भाई ।
सिद्ध रूप तेरे घट अंतर, कहां ढूंढ़ने जाई ॥
जड़ पुद्गल को भिन्न जान तू,मिटै करम दुखदाई ।
सूरत आप आपमें साधै, यह सत्गुरु फरमाई ॥ ३१ ॥

ढढा ढारी छांडि दे, ढिंग इनके मत जाय ।
कुगुरु कुदेव कुज्ञान को, तू मत चित्त लगाय ॥ ३२ ॥

तू मत चित्त लगाय भाव तजि, कुगुरु कुदेव की वानी।
यह तोकूं दुरगति दिखलावैं, सो दुख मूल निशानी ॥
इनतैं काज एक नहिं सुधरैं, करम भरम के दानी।
सूरत तजि विपरीत ईन सो, सत्गुरु आप बखानी ॥ ३३ ॥

णणा रण ऐसो करो, संवर शस्त्र संभार।
कर्म रूप ये अरि बड़ो, ताहि ताक करि मार ॥ ३४ ॥

ताहि ताक करि मार, निवारो कर्म रूप अरि सोई।
है अनादि के ये दुखदाई, तेरी जाति विगोई ॥
नारायण प्रतिहरि हर चक्री, यातैं बचे न कोई।
सूरत ज्ञान सुभट जब जागै, तिन इनकी जड़ खोई ॥ ३५ ॥

तता तन तेरा नहीं, जामैं रह्यो लुभाय।
तेरे नाते तनक में, ताहि कहां पतियाय ॥ ३६ ॥

ताहि कहां पतियाय, पाय सुख ह्वै रह्यो जग को वासी।
छिन में मरे छिनक में उपजे, होय जगत में हांसी ॥
याके संग बढ़े बहु ममता, परै महादुख फांसी।
सूरत भिन्न जान इस तन को, यासे रहो उदासी ॥ ३७ ॥

थथा थिरपद को चहें,यों थिरपद नहिं होय।
थिरता करि परिणाम की, थिरपद परसै सोय ॥ ३८ ॥

थिरपद परसै सोय होय सुख ,गति चारन सों छूटै।
ज्ञान ध्यान को करै हथोड़ा, कर्म अरिनि को कूटै ॥
यह जग जाल अनादि काल का, सो ऐसी विधि टूटै।
सूरत थिरपद को जो परसै, शिवपुर के सुख लूटै ॥ ३९ ॥

ददा दरब छहों कहे, प्रगट जगत के मांहि।
और दरब सब खेल हैं, ज्ञानी मानै नाहिं ॥ ४० ॥

ज्ञानी मानै नाहिं, दरब वे जो रतनन को जानै।
माटी भूमि शैल की, जो धन जग में प्रगट बखानै ॥
पुद्गल जीव धरम अरु अधरम, काल आकाश प्रमानै।
सूरत इन दरबन की चरचा, ज्ञानी गिनै बखानै ॥ ४१ ॥

धधा ध्यान जु जगत में, प्रगट कहे हैं चार।
आर्त रौद्र धर्म सु शुकल, जिनमत कहै विचार ॥ ४२ ॥

जिनमत कहै विचार, चार ये ध्यान जगत के मांहीं।
आरत रौद्र अशुभ के दाता, इनतै शुभगति नाहीं ॥
धर्म ध्यान जे नर धारक, सब सुख होत सदा ही।
सूरत शुक्ल ध्यान के करता,ते शिवपुर को जाही ॥ ४३ ॥

ननना नाशै करम जब, नेह धरै निज माहिं।
नट की कला जु जगत में, नेह करै छिन नाहिं ॥ ४४ ॥

नेह करै छिन नाहिं जगत में, आपा नाहिं फंसावै।
ज्यों पानी में रहे कमल, तउ जल का भेद न पावै ॥
शुभ अरु अशुभ एक से दोनों, रीझै ना पछितावै।
सूरत भिन्न लखै ऐसी विध, करन कहाँ ढिग आवै ॥ ४५ ॥

पपा प्रभु अपनो लखो, पर संगति दे छोर।
पर संगति आस्रव बढ़ै, देय करम झकझोर ॥ ४६ ॥

देय करम झकझोर, जोर करि फिर निकसन नहिं होई।
आस्रव बंध पड़ी है बेड़ी,लगे उपाय न कोई ॥
यातै प्रीति करो संवर सों, हितकारी दिल जोई।
सूरत संवर को आदरिये, कर्म निर्जरा होई ॥ ४७ ॥

फफा फूल्यो ही फिरे, फोकट लखै न भूल।
फांसी पड़ी अनादि की, करि तोड़न को सूल ॥ ४८ ॥

करि तोड़न को सूल, भूल मति दाव भला तै पायो ।
भ्रमते भ्रमते भवसागर सों, मानुषगति में आयो ॥
याहि गति सों भये तीर्थंकर, केवल ज्ञान उपायो ।
सूरत जानि दांव मति चूकै, यह सत्गुरु फरमायो ॥ ४९ ॥

बबा विसन कुविसन हैं, विसन वेग तू त्याग ।
बश करि पांचों इंद्रियां, शुभ कारज को लाग ॥ ५० ॥

शुभ कारज को लाग, त्यागकर विसन सात ये भारी ।
जुआ आमिष सुरापान, अरु आखेटक दुखकारी ॥
परधन चोरी अरु वेश्यातन, त्याग करो पर नारी ।
सूरत इस भव में सुख पावै, परभव सुख अधिकारी ॥ ५१ ॥

भभा भूल्यो ही फिरै, भ्रम्यो महा मिथ्यात ।
भेद न पायो ज्ञान को, तातैं आवत जात ॥ ५२ ॥

तातैं आवत जात, बात सुन भेदज्ञान नहिं पाया ।
क्रोध मान लोभ अरु माया, इनसों नेह लगाया ॥
परमारथ की रीति न जानी, स्वारथ देख भुलाया ।
सूरत भेदज्ञान जिन जानो, तिन मिथ्यात मिटाया ॥ ५३ ॥

ममा मति तिनकी सही, तिन मल कीनो दूर ।
मतवाले मद सूं भरे, तिनकों नाहिं सहूर ॥ ५४ ॥

तिनकों नाहिं सहूर, दूर हैं कुमती कुमति विचारै ।
तिनके कुगुरु तिन्हें समझावें, पकड़े भव जल डारे ॥
पुण्य पाप को भेद न जानै, जीव अनाहक मारै ।
सूरत ते नर पड़े कुसंगति, किस विधि दोष निवारै ॥ ५५ ॥

यया अयान बड़ो बुरो, यामें होय अकाज ।
यह ममता में फंसि रह्यो, याहि न आवे लाज ॥ ५६ ॥

याहि न आवे लाज, आज सुन कह तेरो यहां को है ।
तात मात बांधव सुत कामिनि, तू इनके संग मोहै ॥
आठों याम मगन है इनमें, यह तुमको नहिं सोहै ।
सूरत तजि अज्ञान स्यानपन, तब शिवपुर सुख सोहै ॥ ५७ ॥

ररा राव अनादि को, रच विषयन सों प्रीत ।
रस चाख्यो नहिं आतमी, लखी न रस की रीत ॥ ५८ ॥

लखी न रस की रीत, मीत तैं विषयनि संग सुख माना ।
आतमीक रस है सुखदायक, सो तैं नहीं पिछाना ॥
जिन रस रीति लखी आतम की, सो शिवपुर के राना ।
सूरत वे भवि मुक्ति गए हैं, जिन आतम हित ठाना ॥ ५९ ॥

लला लिपट्यो ही रहै, लग्यो जगत के भेक ।
लख्यो न आप सरूप को, लह्यो न शुद्ध विवेक ॥ ६० ॥

लह्यो न शुद्ध विवेक, एक तैं पर आपा नहिं बूझा ।
वस्तु पराई लखी न भाई, तातें रह्यो अरूझा ॥
वस्तु विनासी नहीं प्रकाशी, तू कर्मन संग जूझा ।
सूरत वे भव पार भये हैं, जिनको आतम सूझा ॥ ६१ ॥

ववा वह संगति बुरी, जामें होय कुभाव ।
साधन की संगति भली, जामें सहज सुभाव ॥ ६२ ॥

जामें सहज सुभाव भाव है, सो शैली मोहि प्यारी ।
तत्त्व दरब की चर्चा तिनकै, तजै कुचर्चा भारी ॥
भरम भावतैं दूर रहत हैं, धर्म ध्यान की त्यारी ।
सूरत यह बांछा मन मेरे, उन मित्रन सों यारी ॥ ६३ ॥

ससा सोई सुघर है, सुनै सुगुरु की सीख ।
सदा रहै शुभ ध्यान में, सही जैन की ठीक ॥ ६४ ॥

सही जैन की ठीक, तिन्हों को और कछू नहिं भावै।
आगम और अध्यातम वानी, सुनै सुनावै गावै ॥
विकथा चार विचार जगत में, तिनकों नाहिं सुहावै।
सूरत सो सज्जन मो भावै, जो शिवपंथ बतावै ॥ ६५ ॥

षषा षुटक निवारि कै, षिमा भाव चितलाय।
खुलै कपाट अभ्यास तें, खिरैं करम दुखदाय॥ ६६॥

खिरैं करम दुखदाय, जाय वह षिमा भाव चित ल्यावै।
होय अभ्यास तास भविजन कों, ज्ञानी ज्ञान जगावै॥
सदा मगन है अपने मन में, रीझ आप सुख पावै।
सूरत सोई भिन्न सबन तैं, सो आतम हित लावै ॥ ६७ ॥

शशा सो स्याना सदा, सुगुरु सीख लख लेह।
सदा रहै संतोष में, सो सांचा जग तेह ॥ ६८ ॥

सो सांचा जग तेह, गेह में जो संतोष विचारे।
जोग जाति सब ही संसारी, तिनको नहीं निहारे॥
संकल्प विकल्प जग के जितने, तिन दुश्मन को टारै।
सूरत सो साधु जग जीते, शिवपुर वेग सिधारै ॥ ६९ ॥

हाहा हूहू करि रह्यो, है पर वशि दुख पाय।
क्यों न आप वश हू जिये, होय परम सुखदाय ॥ ७० ॥

होय परम सुखदाय, पाय पद चिद्रूपी अविनाशी।
केवलज्ञान दर्श जहं केवल, सिद्धपुरी सुखराशी॥
आठों करम खिपावै तिनके, आठों गुन परकासी।
सूरत सिद्ध महा सुख पावै, काल अनंता पासी ॥ ७१ ॥

लला लेखे परमपद, लखि लखि गये निर्वान।
लोक शिखर ऊपर चढ़े, लियो सिद्ध शिवथान॥ ७२ ॥

लियो सिद्ध शिवथान, आन लखि सोइ सिद्ध कहाये।
दर्शन ज्ञान चरन गुन तीनों, तिन शिवपुर पहुंचाये॥
जो जो दरसै सो सो भासै, आप अचल ठहराये।
सूरत सिद्ध कहे ऐसे गुरु, जिन पुरान में गाये ॥ ७३ ॥

लला लक्ष्मी जो वरें, गुन लक्षण को वेव।
लखै सुलक्षन परखि कै, तजे कुलक्षण टेव॥ ७४ ॥

तजै कुलक्षन टेव, भेद लखि सिद्ध रूप को ध्यावै।
अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय, साधुन सीस नवावै॥
जिन मत धर्म देव गुरु च्यारों, यह दृढ़ता मन लावै।
सूरत यह परतीत धरै मन, सो सम्यक्पद पावे ॥ ७५ ॥

सम्यक्पद को जो लहै, करै बैन गुरु प्रीत।
देव धरम गुरु ज्ञान को,परखि गहै निज रीत॥ ७६ ॥

बारहखड़ी हित सों कही,नहिं गुनियन की रीस।
दोहा तो चालीस हैं, छंद कहे छत्तीस ॥ ७७ ॥

अध्यात्म बारहखड़ी

पं. दौलतमल जी द्धारा विरचित

पंडित दौलतराम जी का समय विक्रम संवत् १७४९ से १८२९ तक रहा, उनकी अनेक रचनाओं में अध्यात्म बारहखड़ी भी सम्मिलित है। पंडित दौलतराम जी कासलीवाल वासवा जयपुर के निवासी थे, उनके द्वारा रचित अध्यात्म बारहखड़ी में प्रत्येक अक्षर के संस्कृत श्लोक के साथ–साथ हिंदी में विभिन्न छंदों के द्वारा आध्यात्मिक रहस्य स्पष्ट किया है, इस पूरी कृति को यहां देना संभव नहीं हो सका अत: अध्यात्म बारहखड़ी के मात्र संस्कृत श्लोक यहां दिये जा रहे हैं।

ॐकारं परमं देवं ज्ञानानंद मयं विभुं।
परात्परतरं शुद्धं बुद्धं वंदे स्वरूपिणं ॥

श्रमणं श्राद्ध निस्तारं श्रियोपेतं च श्रीधरं ।
श्रुतीशं श्रूयमाणं च श्रेयं पूजं यशस्करं ॥

अनादि निधनं वंदे स्वधनं धन दायकं ।
सुभतं लक्षणो पेतं, अमरामरमीश्वरं ॥

आदि देवं युगाधारं, आत्माराम पितामहम् ।
वंदे साकार रूपं च निराकारं निरंजनम् ॥

इन्द्र नागेन्द्र चक्रीणामीश्वरं जगदीश्वरं ।
वन्दे सर्व विभूतिनां दायकं मुक्ति नायकं ॥

ईकाराक्षर कर्तारं ईश्वरं जगदीश्वरं ।
धीश्वरं धिषणाधीशं ईशं वंदे मुनीश्वरं ॥

उकाराक्षरं महादेवं शंकरं भुवन त्रये ।
वंदे सदाशिवाधीशं नित्यमानंद मंदिरं ॥

ऊ कहिए सिद्धांत में प्रगट विष्णु को नाम ।
सर्व व्यापको विष्णु है परम ज्योति गुण धाम ॥
(नोट– मूल प्रति में संस्कृत श्लोक नहीं है)

ऋकाराक्षर कर्तारं धातारं धर्म शुक्लयो: ।
ज्ञातारं सर्व भावानां वन्दे त्रातारमीश्वरं ॥

ॠकाराक्षर कर्तारं भेत्तारं कर्म भूभृतां ।
ज्ञातारं विश्व तत्वानां वंदे देवो सदोदयं ॥

ऌकाराक्षर कर्तारं देव देवाधिपं परं ।
पूर्णं पुरातनं शुद्धं बुद्धं वंदे जगत्प्रियं ॥

ॡकाराक्षर धातारं दातारं सर्व संपदां ।
नेतारं मोक्षमार्गस्य वंदे देवं सदोदयं ॥

एकं विशुद्धमत्यक्षं परमानंद कारणं ।
परं परात्परं देवं वंदे स्वात्म विभूतिदं ॥

ऐकारं परमं देवं सर्वाक्षर निरूपकं ।
वंदे देवेन्द्र वृंदार्च्चं परमं पुरुषोत्तमं ॥

ओकारं परं देवं सर्वज्ञं सर्वदर्शनं ।
तू हि जु ब्रह्मा हर हरी और न दूजौ राम ॥

औकाराक्षरं कर्तारं ज्ञानानंदैक लक्षणं ।
सर्वज्ञं सुगतं शुद्धं बुद्धं वंदे जगत्रयं ॥

अंकारं परमं देवं शिवं शुद्धं सनातनं ।
योगिनं भोगिनं नाथं वंदे लोकेश्वरं विभुं ॥

अ:काराक्षर कर्तारं देव देवाधिपं विभुं ।
सर्वाधारं निराधारं वन्दे वंद्यं सुराधिपै: ॥

कलानिधिं कलातीतं कामदं कामघातकं ।
किं नाकघ्नं शिवाधारं कीटकुंथ्वादिरक्षकं ॥

खला रागादयो सर्वे येन ज्ञानासिनाहता ।
ख्याति कांक्षा विनिर्मुक्ता यं भजन्ति तपश्विन: ॥

गणाधारं गताधारं गात्रातीतं सुगात्रकं ।
गिरातीतं च गीर्वाणै: सेवितं गुणरूपितं ॥

घटस्थमघटं देवं घाति चाघाति वर्जितं ।
सर्वमात्रामयं धीरं वीरं वंदे महोदयं ॥

ङकाराक्षर कर्तारं भेत्तारं कर्म भूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वंदे लोकाधिपं विभुं ॥

चतुर्वक्रश्वचारित्री चिच्चिमत्कार चिन्मय: ।
अचीवरो निराभर्णो न च्युतो जन्ममृत्यु हा ॥

छल छद्म विनिर्मुक्तं सछास्त्रस्थनिरुपकं ।
सछिवास्य पदधातारं सछीलनायकं विभुं ॥

जगन्नाथं जनाधीशं जातरूपा भमीश्वरं ।
जिनं जीवाधिपं धीरं जुटितं च न मायया ॥

झखध्वज रिपुं धीरं सर्व प्राणिहितं परं ।
सर्वमात्रामयं धीरं वंदे देवेन्द्र वंदितं ॥

ञकाराक्षरं कर्तारं सर्वज्ञं सर्व कामदं ।
शिवं सनातनं शुद्धं बुद्धं वंदे जगत्रियं ॥

टकाराक्षर कर्तारं चिच्चिमत्कार लक्षणं ।
वंदे देवाधिपं देवं सर्वभूत हितं परं ॥

ठकाराक्षर कर्तारं दातारं धर्म शुक्लयो: ।
नेतारं मोक्षमार्गस्य वंदे तत्पद लब्धये ॥

डकाराक्षर कर्तारं सर्व प्राणि हितं करं ।
वंदे लोकाधिपं देवं सर्वमात्रा प्रकाशकं ॥

ढकाराक्षर कर्तारं ज्ञानरूपं जगद्गुरुं ।
लोकालोक प्रज्ञातारं देवं देवाधिपं विभुं ॥

णकाराक्षर धातारं ज्ञानिनं परमोदयं ।
सानंदं परमानंदं वंदे सर्वेश्वरं गुरुं ॥

तत्त्वं तथ्य प्रणेतारं तारकं तापहारकं ।
त्रिगुणं तीरदं तुष्टं तूप हर्म्यावलीयुतं ॥

थकाराक्षर कर्तारं सर्वमात्रा मयं विभुं ।
वंदे देवेन्द्रवृंदार्च्यं लोकालोक प्रकाशकं ॥

दयामयं सुदातारं दिनाधीशेश्वरं विभुं ।
दीनबंधु जगत् बंधु दुष्टकर्म निवारकं ॥

धर्माधीशं धराधीशं धातारं धिषणाधिपं ।
शुद्धं बुद्धं सदा शान्तं धीरं वीरं धुरंधरं ॥

नत्वा नाभिभवं धीरं ऋषभं ऋषिपूजितं ।
नित्यं निरंजनं शांतं नीतिमार्ग प्रकाशकं ॥

परमानंद संयुक्तं पापापेतं महेश्वरं ।
प्रियं पिनाकिना संसेव्यं प्रीत्याप्रीतिविवर्जितं ॥

फकाराक्षर कर्तारं फलदातारमीश्वरं ।
सर्वमात्रामयं धीरं वंदे देवं सदोदयं ॥

बर्धमानं महाबाहु विश्वविद्याकुल गृहं ।
वीतरागं विनिर्मोहं बुद्धं शुद्धं प्रभाधरं ॥

भव्यांभोरुहमार्तंडं भानुकोटिजितप्रभं ।
भिन्नं रागादिभिर्भीति नाशनं भुक्ति मुक्तिदं ॥

महादेवं महावीरं मानमायादि दूरगं ।
मिथ्यामार्ग निहंतारं मीनध्वज निपातकं ॥

यशोराशिं महाबाहुं याञ्चा सर्वपूरकं ।
यियासारहितं नित्यं निश्चलं लोकवत्सलं ॥

रजोहरं रमानाथं राजराजेन्द्र सेवितं ।
रिक्तता रहितं पूर्णं धर्मरीति प्रकाशकं ॥

लोकनाथं महाशांतं लौल्पतारहितं सदा ।
लंपटैर्न क्वचित् लभ्यं लिंग रूपादि वर्जितं ॥

वश्येंद्रियं वृषाधीशं वाक वादिनि भासकां ।
विशालाक्षं च विश्वेशं वीतरागं गतक्लमं ॥

शक्तिमूलं च शक्तिशं धर्मशास्त्र प्रकाशकं ।
शिवं भवं सदाशीलं शुद्धं शुक्लं प्रभाधरं ॥

षकाराक्षर कर्तारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
सर्वमात्रामयं धीरं वीरं वंदे सदोदयं ॥

सनातनं सदानंदं सारासार निरूपकं ।
सिद्धं शुद्धं सदाबुद्धं पूजितं सीरपाणिना ॥

हरिहरं महावीरं हार निहार संनिभं ।
हितं हिरण्यगर्भं च हीन दीनादि पालकं ॥

क्षमाधारं रमानाथं क्षांति रूपं महाबलं ।
क्षिप्तरागादि संतानं क्षीणमोहं जगद्गुरुं ॥

❀ इति ❀

महिमामय मंत्र : ॐ नम: सिद्धम्

महामंत्र है यह, जपाकर जपाकर,
ॐ नम: सिद्धम्,ॐ नम: सिद्धम् ।
रहे स्मरण में, मंत्र यह निरंतर,
ॐ नम: सिद्धम्,ॐ नम: सिद्धम् ॥

गुरुदेव तारण को जहर जब पिलाया ।
अमृत हुआ विष, कर कुछ न पाया ॥
मंत्र की अगम है महिमा ध्याओ शांत होकर,
ॐ नम: सिद्धम्, ॐ नम: सिद्धम्.....

गुरुदेव को जब नदी में डुबाया ।
बने तीन टापू, देव यशोगान गाया ॥
अलौकिक क्षमा के सागर, बोलो थे गुरुवर
ॐ नम: सिद्धम्, ॐ नम: सिद्धम् .....

सिद्ध प्रभु जैसे सदाकाल शुद्ध हैं ।
वैसे ही मेरा आतम, सदा शुद्ध बुद्ध है ॥
स्वानुभूति करते हुए बोलो सभी नर,
ॐ नम: सिद्धम्, ॐ नम: सिद्धम् .....

कहने लगे एक दिन विरऊ ब्रह्मचारी ।
कौन सा मंत्र है कल्याणकारी ॥
तो बोले थे ज्ञानी तारण तरण गुरुवर ,
ॐ नम: सिद्धम्, ॐ नम: सिद्धम् .....

चिन्तन

ॐ नम: सिद्धम् मंत्र आत्मा के सिद्ध स्वरूप का अनुभव कराने वाला विशिष्ट मंत्र है । अपने आत्म स्वरूप का बोध न होने के कारण यह जीव अनादिकाल से संसार में भटक रहा है । एक समय की आत्मानुभूति संसार के बंधनों से छूटने का उपाय है । यह अद्भुत कार्य ॐ नम: सिद्धम् मंत्र के आराधन से होता है ।

ज्ञायक रह आतम सुख पाओ

ॐ नम: सिद्धम् ध्यान लगाओ, ज्ञान में देखो सिद्ध स्वभाव ।
शुद्धातम से प्रीति लगाओ, ज्ञायक रह आतम सुख पाओ ॥
ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम्...

कब से पर में भटक रहे हो, जन्म मरण दु:ख भोग रहे हो ।
बिन केवट की नैया चढ़के, भव सागर में डूब रहे हो ॥
आतम से अपनी नेहा लगाओ, ज्ञायक रह आतम सुख पाओ ॥
ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम्...

मैं हूं चेतन सिद्ध स्वरूपी, भेदज्ञान की भावना भाओ ।
जड़ शरीर पुद्गल है न्यारा, मिथ्या श्रद्धा दूर भगाओ ॥
शुद्धातम की शक्ति जगाओ, ज्ञायक बन आतम सुख पाओ ॥
ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम्...

क्रिया भाव पर्याय से न्यारा, आतम अनंत चतुष्टय वाला ।
केवलज्ञान की सत्ता शक्ति, तीन लोक का जाननहारा ॥
आतम गुण को अब प्रगटाव, ज्ञायक बन आतम सुख पाओ ॥
ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम्...

वीरा राग द्वेष को छोड़ो, शुद्धातम से प्रीति जोड़ो ।
पर भावों मे भटक रहे क्यों, मोह राग में अटक रहे क्यों ॥
पर से प्रीति भाव हटाओ, ज्ञायक बन आतम सुख पाओ ॥
ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम् ॐ नम: सिद्धम्...

चिन्तन

शान्ति का स्थाई स्थान निर्मोही आत्मा है ।
मायावी कुटिल होता है और भद्र सरल होता है ।
त्यागी होकर जो संचय करते हैं वे महान पापी हैं ।
दान के बिना गृहस्थ का घर श्मशान तुल्य बतलाया है ।

चेतावनी

उमरिया पल पल बीती जाये,
भज लो ॐ नम: सिद्धम् ॥

मैं आतम हूं सिद्ध स्वरूपी, सब कर्मों से न्यारा ।
भाव क्रिया पर्याय भिन्न है, ज्ञान स्वभाव हमारा ...उमरिया...

जड़ चेतन दोनों है न्यारे, यह निश्चय से जाना ।
सब स्वतंत्र हैं निज सत्ता में, जिनवाणी में बखाना ...उमरिया...

बड़े भाग्य मानुष तन पाया,धर्म साधना कर लो ।
रत्नत्रय को धारण करके, मुक्ति श्री को वर लो ...उमरिया...

आयु का नहीं कोई भरोसा, कौन समय क्या होवे ।
मोहनींद से जाग रे चेतन, मूर्च्छा में क्यों सोवे ...उमरिया...

दृढ़ता धर पुरुषार्थ जगाओ, अपना सुमिरण कर लो ।
दुर्लभ सब शुभ योग मिले हैं, संयम तप को धर लो ...उमरिया...

ब्रह्मानन्द में लीन रहो नित, कर्म कषाय गलाओ ।
साक्षी ज्ञायक रहो निरन्तर, ध्यान समाधि लगाओ ...उमरिया...

गुणों में आचरण करना ही धर्म है

दया जैसा कोई धर्म नहीं, हिंसा के समान कोई पाप नहीं, ब्रह्मचर्य के समान कोई व्रत नहीं, ध्यान के समान कोई साधन नहीं, शांति के समान कोई सुख नहीं, ऋण के समान कोई दु:ख नहीं, ज्ञान के समान कोई पवित्र नहीं, शुद्धात्म स्वरूप के समान कोई इष्ट नहीं, पापी के समान कोई दुष्ट नहीं, क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं और क्षमा के समान दूसरा कोई मित्र नहीं, इसलिये सद्गुणों को धारण कर आत्म हित करना चाहिये । सम्यक्दर्शन पूर्वक उत्तम क्षमा धर्म प्रगट होता है ।